सहजानंद शास्त्रमाला

समयसार-दृष्टान्तमर्म

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी
सहजानंद महाराज

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

(७६)

समयसार-दृष्टान्तमर्म

लेखक
अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज

सम्पादक
महावीरप्रसाद जैन बेंकर्स, सदर मेरठ ।

प्रकाशक
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उ०प्र०)

卐

द्वितीय संस्करण
सन् १९८१

न्योछावर
१ रु० ५० पैसे

To report error, please contact vikasnd@gmail.com

पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी
सहजानंद महाराज

卐 ॐ 卐

समयसार-दृष्टान्त-मर्म

१—समय या समयसार आत्मा का नाम है। यह आत्मा प्रतिक्षण अपनी परिणति करता रहता है। जगत के जीव परिणतियों को निज सर्वस्व समझते हैं किन्तु उन्हें अपने एकपने की खबर नहीं है जो सब परिणतियों में रहता है। सब द्रव्यों का अपना अपना एकत्व (स्वभाव) टङ्कोत्कीर्ण प्रतिबिम्बवत् निश्चल है। आत्मा का भी चैतन्यस्वभाव टङ्कोत्कीर्णवत् निश्चल है। जैसे टांकी से उकेरी गई प्रतिमा मुड़ नहीं सकती, परिवर्तित हो नहीं सकती, इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव बदल नहीं सकता; आत्मा एक चैतन्य स्वभाव है, वह सनातन है।

२—इस समयसारस्वरूप निज सहज कारणपरमात्मा की अनुभूति के बिना जगत के जीव ऐसे परिभ्रमण करते हैं जैसे कोल्हू का बैल। कोल्हू के बैल की आंखों पर पट्टी बंधी है जिससे उसे सूझता नहीं है सो वह बैल तेली की प्रेरणा के निमित्त से कोल्हू के घेर फेर गोल गोल चक्कर काटता है, किन्तु वह यह नहीं समझता कि मैं वहीं के वहीं बार बार चल रहा हूँ बल्कि वह मानता है कि मैं सीधा ही नया नया गमन कर रहा हूँ। वैसे जगत के प्राणियों की ज्ञानचक्षु पर मोह-अज्ञान की पट्टी बंधी है जिससे उसे शान्ति सत्यपथ सूझता नहीं है सो वह मोही कर्मविपाक के निमित्त से पञ्चेन्द्रिय के विषयों के घेर फेर बार बार चक्कर काटता है किन्तु वह यह नहीं समझता कि मैं उच्छिष्ट को ही बार बार भोग रहा हूँ, बल्कि वह मानता है कि मैं सीधा ही नया नया विलक्षण कार्य कर रहा हूँ। यह मोह की लीला है।

३—परमशुद्धनिश्चयनय से परिचय में आया हुआ आत्मा शुद्ध आत्मा है। सर्व पर, परभाव, विकल्प, भेदों से भिन्न केवल स्वरूप वाला शुद्ध आत्मा है। इसे दाह्य (जलते हुए ईंधन) में रहने वाले अग्निकी तरह अशुद्ध न मानना अर्थात जैसे केवल अग्नि कहां रह सकती

To report error, please contact vikasnd@gmail.com
Version 1

है ? अग्नि तो जिसे जला रही है उस दाह्यके आधारमें आकारमें रहती है, इस तरह अग्नि दाह्य में रहने के कारण अशुद्ध है, भिन्न व स्वतन्त्र नहीं है। वैसे "केवल ज्ञान निराधार कैसे होगा ? ज्ञान तो जिसे जान रहा है उस ज्ञेय के आधार में, आकार में रहता है; इस तरह ज्ञान ज्ञेय में रहने के कारण अशुद्ध है, भिन्न व स्वतन्त्र नहीं है" ऐसी अशुद्धता आत्मा में नहीं समझना। क्योंकि, ज्ञायकरूप से जाना गया यह आत्मा खुद ही खुद को जानता है, वह ज्ञान ज्ञेय में नहीं रहता, इस लिए ज्ञान या ज्ञानमय आत्मा सर्व परसे भिन्न होने से शुद्ध है।

४—ज्ञायक आत्मा ज्ञेय से भिन्न है। जैसे-दीपक खुद खुदको प्रकाशित करता है; यद्यपि स्वयं प्रकाशमान दीपकके द्वारा घट पटादि पदार्थ प्रकाश्य हो जाते हैं तथापि दीपक घटपटादि पदार्थों में नहीं रहता है घटपटादि पदार्थोंसे दीपक भिन्न है। वैसे-आत्मा खुद खुद को प्रतिभासता है। यद्यपि स्वयं प्रतिभासमान ज्ञान या ज्ञायक आत्मा के द्वारा बाह्य पदार्थ ज्ञेय हो जाते हैं तथापि ज्ञान या ज्ञायक आत्मा बाह्य ज्ञेय पदार्थों में नहीं रहता है। ज्ञेय बाह्य पदार्थों से आत्मा भिन्न है, वह पर ज्ञेय पदार्थों को कुछ नहीं करता। वास्तविकता यह है कि प्रत्येक पदार्थो में स्वयं स्वयं में ही कर्ताकर्मपना होता है।

५—द्रव्यदृष्टि से विज्ञात शुद्ध आत्मा परमार्थ है, यही ध्येय है और यही वक्तव्य है तथापि जिन्हें परमार्थ का परिचय नहीं है उन्हें समझाने का उपाय व्यवहार ही है। जैसे—मात्र अंग्रेजी जानने वाले राजा के पास जाकर कोई संस्कृतज्ञ पंडित 'स्वस्ति' ऐसा आशीर्वाद कहे तो वह राजा उस शब्द का अर्थ नहीं जानने से मेंढे की तरह आंख की टकटकी लगाकर पंडित की ओर देखता रहता है। क्योंकि पंडित की मुखमुद्रा से वह यह तो जान गया कि कुछ अच्छी बात जरूर कही है किन्तु क्या कही यह नहीं समझा। जब अंग्रेजी व संस्कृत दोनों भाषाओं का जानकार वही पंडित या अन्य विद्वान जब 'स्वस्ति' का भाव अंग्रेजी भाषा में अनुवादित करके कहता है कि

'may be blessed' तब वह राजा बड़ा प्रमुदित होता हुआ इस तथ्य को समझ जाता है। वैसे मात्र भेद पर्यायरूप ही अपना परिचय रखने वाले प्राणी से कोई महात्मा गुरु 'आत्मा' इस शब्द द्वारा परमार्थ को कहे तो वह प्राणी उस शब्द का भाव न जानने से मेंढे की तरह आंख की टकटकी लगाकर गुरु की ओर देखता रहता है, क्योंकि गुरु की मुद्रा व देशनाविधि से वह यह तो समझ गया कि कोई मेरे भले की ही यह बात बताई जा रही है। इसी से वह प्रेम से गुरु की ओर देखता रहता है किन्तु क्या कहा यह बात नहीं जानता। जब व्यवहार और परमार्थ के जानकार वे गुरु व्यवहारनय से समझाते हैं कि जो देखता है जानता है वह आत्मा है आदि, तब यह जीव बड़ा आनंदित होता हुआ निज तथ्य को समझ जाता है। इस तरह व्यवहार परमार्थका प्रतिपादक होने से उसकी भी कभी आवश्यकता है।

६—व्यवहार परमार्थ का प्रतिपादक है जैसे परमार्थ से घटज्ञानी कौन है ? जैसा घट है उस तरह के जानने से परिणत जो आत्मा है वह परमार्थ से घटज्ञानी है; यहाँ आत्मा ने अपने को ही जाना, यह मर्म जिनकी समझ में नहीं है उन्हें समझाने के लिए यह कहना पड़ता है कि जो घट को जानता है वह घटज्ञानी है। तथा परमार्थसे श्रुतकेवली कौन है ? जैसा द्वादशांग का सर्व विषय है उस तरह के जानने से परिणत जो आत्मा है वह परमार्थ से श्रुतकेवली है; यहां आत्मा ने अपने को ही जाना, यह मर्म जिनकी समझमें नहीं है उन्हें समझाने के लिए यह कहना पड़ता है कि जो समस्त द्वादशांग को जानता है वह श्रुतकेवली है यह व्यवहार हुआ। व्यवहार परमार्थका संकेत करता है यह जानकर व्यवहारका प्रयोजन परमार्थ की साधना का समझें, व्यवहार में ही न अटकें।

७—व्यवहार अभूतार्थ है निश्चय भूतार्थ है। जो भूतार्थ का आश्रय करते हैं वे सम्यग्दृष्टि हैं। जैसे कोई अविवेकी पुरुष कीचड़ मिले हुए बरसाती पुखरिया के जल को (जिसकी कि स्वच्छता तिरो-

To report error, please contact vikasnd@gmail.com Version 1

हित हा गई) पीनेवाले कीचड़ और पानीका विवेक न करते हुए उस मलीन जल को पी लेते हैं परन्तु विवेकी पुरुष अपने हाथ से डाले हुए कतकफल के निमित्त से कीचड़ और जल का विवेक हो जानेसे अपनी मूर्ति की परछांई द्वारा स्वच्छता की परीक्षा करके स्वच्छ जल को पी लेते हैं। वैसे मोही जीव कर्म से संयुक्त ज्ञायकस्वरूप अपने को (जिसका किज्ञायकस्वभाव तिरोहित हो गया) अनुभव करनेवाले आत्मा और भावकर्म का विवेक न होने से व्यवहारविमूढ होकर निज को नानारूप अनुभव करने लगते हैं। परन्तु वस्तुस्वभाव के समझने वाले अपनी बुद्धि से प्रयोग किये गये निश्चयनयरूप भूतार्थ के आश्रय द्वारा आत्मा और भावकर्म का विवेक हो जाने से अपने आप के आकार में प्रकट अपने स्वभाव का परिचय करके एक ज्ञायकस्वरूप निज का अनुभवन कर लेते हैं।

८— जिन्होंने परमार्थ का परिचय प्राप्त किया उन्हें व्यवहार से प्रयोजन नहीं है। किन्तु जो अपरमार्थ में ठहरे हैं उन्हें व्यवहार प्रयोजनवान है। जैसे-जो आखिरी तावसे तपे हुए शुद्ध स्वर्ण से परिचित हैं उन्हें अशुद्ध स्वर्णमें आदर व प्रयोजन नहीं है। किन्तु जिन्हें शुद्ध स्वर्ण का परिचय नहीं है उन्हें अशुद्ध स्वर्ण में आदर व प्रयोजन है। वैसे जो निज परमपारिणामिकभाव से परिचित हैं उन्हें पर्याय, भेद आदि व्यवहारमें आदर व प्रयोजन नहीं है। किन्तु जो विकल्परूप अपरमार्थ भावमें ठहरे हैं परमार्थ से परिचित नहीं हैं उन्हें व्यवहार में आदर व प्रयोजन भी है। परमार्थ में पहुँचने पर व्यवहारमें आदर व प्रयोजन नहीं रहता।

९—आत्मा सामान्य विशेषात्मक है। सामान्य अंश ध्रुव होने से परमार्थ है और विशेष अंश अध्रुव होने से अपरमार्थ है। परमार्थ दृष्टि से आत्मा अबद्ध (किसी से न बंधा हुआ), अस्पृष्ट (किसी से न छुआ हुआ), अनन्य (अन्य नहीं किन्तु वही वही), अविशेष (गुण भेद रहित), नियत, असंयुक्त (नैमित्तिक विभाव से रहित) है। किन्तु अपरमार्थ दृष्टिसे आत्मा बद्ध, स्पृष्ट, अन्य, विशेष अनियत व संयुक्त

भी है। ध्रुव, एक को देखना सामान्यदृष्टि है। अध्रुव, अनेक को देखना विशेषदृष्टि है। जैसे— कमलिनीका पत्र तालाब में डूबा है उसे जल व पत्र की संयोग दृष्टि से देखें तो पत्र जल से बद्ध व स्पृष्ट है। यदि केवल पत्र को या पत्र के ही स्वभाव की मुख्यता से देखें तो पत्र बद्ध नहीं है और न स्पृष्ट ही है।

१०—सामान्यदृष्टि से आत्मा अनन्य है, विशेषदृष्टि से आत्मा अन्य अन्य है। जैसे—एक मिट्टीके ही होने वाले पिण्ड कोश कुशूल घट कपाल को विशेष, पर्याय की दृष्टि से देखें तो सब अन्य अन्य हैं किन्तु एक मिट्टी के स्वभाव को मुख्य करके देखें तो सब अनन्य हैं एक मिट्टी है। वैसे नर नारक आदि व क्रोध मान आदि पर्याय विशेष की दृष्टि से देखें तो सब अन्य अन्य हैं, किन्तु एक आत्मस्वभाव की मुख्यतासे देखें तो वहाँ सर्वत्र एक विशुद्ध चैतन्य है।

११—सामान्य, परमार्थ, दृष्टि से आत्मा नियत है, विशेष अपरमार्थ दृष्टि से आत्मा अनियत है। जैसे—समुद्र को वृद्धि हानि पर्याय की दृष्टिसे देखा जावे तो समुद्र अनियत है, किन्तु केवल समुद्रपने की दृष्टि से देखा जावे तो समुद्र सदा नियत है। वैसे आत्मा को वृद्धि हानि पर्याय से देखो तो आत्मा कभी कम या अधिक मतिज्ञानी है, कभी कम या अधिक श्रुतज्ञानी है, कभी कम या अधिक क्रोधी है, कभी कम या अधिक शान्त है इत्यादि प्रकार से आत्मा अनियत है किन्तु सदा व्यवस्थित आत्मस्वभाव की दृष्टि से देखा जावे तो सदा चैतन्यस्वभावरूप नियत है।

१२—अभेददृष्टि में आत्मा अविशेष है, भेददृष्टि में आत्मा विशेषरूप है। जैसे-एक सुवर्ण को भी चिकना, वजनदार, पीला आदि भेदों से देखा जावे तो सुवर्ण विशेष विशेषरूप है किन्तु अभेद दृष्टि से (जहां कि विशेष की दृष्टि लुप्त हो गई है) देखा जावे तो वह सर्वत्र एक सुवर्ण ही है। वैसे एक आत्मा को ज्ञान, दर्शन आदि भेदोंसे देखा जावे तब आत्मा ज्ञानरूप, दर्शनरूप आदि विशेष विशेष-

To report error, please contact vikasnd@gmail.com Version 1

रूप है किन्तु अभेददृष्टि से (जहां किस मस्त विशेष लुप्त हो गये हैं) देखा जावे तो वह सर्वत्र एक सामान्य आत्मा ही है।

१३ - परमार्थ, स्वभावदृष्टि से आत्मा असंयुक्त, स्वभावमात्र है, अपरमार्थ, संयोगदृष्टिसे आत्मा संयुक्त, परभावरूप है। जैसे अग्नि के संयोग के निमित्त से होने वाली उष्णपर्याय के सम्बन्ध की दृष्टि से देखा जावे तो जलमें संयुक्तता है, किन्तु केवल जल के शीतस्वभाव की दृष्टि से देखा जावे तो वह संयुक्तता नहीं है स्वभावरूप है। वैसे कर्मविपाक के निमित्त से होने वाले मोह के सम्बन्ध की दृष्टि से देखा जावे आत्मा में संयुक्तता है, कुछ मिला है, किन्तु केवल परमार्थ आत्मस्वभाव चैतन्यकी दृष्टि से देखा जावे तो संयुक्तता नहीं है, आत्मा स्वभावमात्र है।

१४—आत्मा परमार्थ से सहज चैतन्यस्वरूप है, सहजज्ञानमात्र है। वह यद्यपि नित्य प्रकट है, तो भी सहजज्ञान की परिणति में जो ज्ञेय होता है उसमें लोभी हो जाने से मुग्ध जीवों को निज स्वभाव का स्वाद नहीं रहता है। जैसे—नाना प्रकार की शाकों में नमक पड़ा हुआ है, शाक के खाने के समय नमक का भी स्वाद आ रहा है, परन्तु शाक में आसक्ति होने से शाक विशेष पर ही दृष्टि है सो नमक का तिरोभाव होने से लोभी शाकविशेष रूप से नमक को स्वादता है किन्तु नमक का प्रकट स्वाद नहीं ले सकता है। वही पुरुष यदि केवल नमक की डली का स्वाद ले तो सर्व व्यञ्जनों की दृष्टि न होनेसे प्रकट नमक का स्वाद लेता है। वैसे नाना ज्ञेयों में उपयोग आसक्ति होने से यद्यपि स्वाद ज्ञान का ही है तथापि ज्ञेय की ओर दृष्टि होने से, विशेष का ही प्रकाश होने से ज्ञान का स्वाद मोही जीव को नहीं प्राप्त होता, किन्तु ज्ञेय के स्वाद की कल्पना में ही बेसुध रहता है। यही जीव यदि सर्व से भिन्न केवल ज्ञानमात्र आत्मा को अनुभवे तो विशेष विकल्पों का तिरोभाव हो जाने से अनासक्त उदासीन उस ज्ञानी को प्रकट आत्मा का अनुभव, स्वाद आता है।

१५—ज्ञानी को जिसका अनुभव होता है वह दर्शन ज्ञान चारित्रात्मक एक निज आत्मा है। आत्मा के दर्शन (श्रद्धान) ज्ञान, चारित्र भिन्न नहीं है। जैसे किसी देवदत्त नाम के पुरुषका जो श्रद्धान ज्ञान आचरण है वह सब देवदत्त से भिन्न किसी अन्य पुरुष या जड़में नहीं है क्योंकि वे देवदत्त के स्वभाव हैं इसी तरह आत्मा के दर्शन ज्ञान चारित्र आत्मासे भिन्न नहीं हैं। दर्शनज्ञान चारित्र की उपासना करो ऐसा भेदरूप उपदेश व्यवहार से है, वास्तव में यह अखण्ड निज एक आत्मा ही उपास्य है।

१६— इस निज अखण्ड आत्मा की उपासना से होने वाले मोक्षकी जिन्हें चाह है उनका कर्तव्य है कि पहिले इस निज सतज्ञायक स्वरूप आत्माको जानें और श्रद्धान करें और उसही के अनुरूप आचरण करें जैसेकि जो कोई पुरुष धनलाभकी चाहकरे तो वह सबसे पहिले राजा को जानता है और उसका विश्वास करता है तथा फिर उस राजा के अनुकूल प्रवृत्ति करता है इस उपाय से उसे धनलाभ हो जाता है।

१७—यह आत्मोपलब्धि तब तक नहीं हो सकती जब तक यह जीव अज्ञानी है। जैसे—घड़ेके रूप रस गंध स्पर्शमें तथा घड़ेके आकार में यह घड़ा है और घड़े में रूपादि भाव व आकार है इस तरह घड़े में और रूपादि भाव व आकार में उस वस्तु के अभेदरूप याने एकमेक अनुभव होता है, इस तरह यदि कोई आत्मा मोहादिक भाव में और शरीर में यह मैं आत्मा हूं और मुझ आत्मा में मोहादि व शरीर है ऐसा आत्मा के अभेदरूप अनुभव करे तो वह अज्ञानी है, क्योंकि स्वभाव और परभाव को एकत्वरूप अभिप्राय अज्ञान है।

१८—जैसे—दर्पण का स्वरूप तो ऐसी स्वच्छता ही है जिसके कारण उसमें स्व पर के आकार का प्रतिभास होता है और यदि उस दर्पण में अग्नि का प्रतिबिम्ब हो रहा है तो वहां अग्नि का कुछ नहीं है अग्नि का स्वरूप उष्णता व ज्वाला है सो उष्णता व ज्वाला अग्नि

में ही है दर्पणमें नहीं है। वैसे जब इस आत्माके ऐसा भेदविज्ञान प्रकट होता है कि "मुझ अमूर्त आत्मा का स्वरूप तो स्व पर को जानने वाला जाननपन ही है और कर्म नोकर्म पुद्गलों का स्वरूप याने पर्याय हैं" और इस भेद विज्ञान के अनंतर अभेद अद्वैत निज आत्मा का अनुभव होता है तभी यह ज्ञानी हो जायगा।

१६—जैसे "अग्नि इंधन है, इंधन अग्नि है, अग्नि का इंधन है, इंधन की अग्नि है, अग्नि का इंधन था, इंधन की अग्नि थी, अग्नि का इंधन होगा, इंधन की अग्नि होगी" इस प्रकार अग्नि व इंधन जुदे होने पर भी जब तक इंधन में अग्नि की असद्भूतकल्पना है तब तक वह अज्ञानी है और जब "अग्नि इंधन नहीं है, इंधन अग्नि नहीं है, अग्नि अग्नि है, इंधन इंधन है" ऐसा अग्निमें ही अग्नि का ज्ञान करे तब वह उस विषय का ज्ञानी कहा जाता है। (इसी तरह भूत भविष्य के भी उदाहरण लगा लेना)। वैसे- "मैं यह हूं, यह मैं हूं, मेरा यह है, इसका मैं हूँ, मेरा यह पहिले था, इसका मैं पहिले था, मेरा यह आगे होगा, इसका मैं आगे होऊंगा" इस प्रकार परपदार्थ और आत्मा जुदा होने पर भी जब तक परपदार्थ में आत्मा की असद्भूत कल्पना है तब तक वह अज्ञानी है और जब तक "मैं यह नहीं हूं, यह मैं नहीं हूँ, मैं मैं हूं, यह यही है, मेरा यह नहीं था, इसका मैं नहीं था, मेरा मैं ही था, इसका यह ही था, मेरा यह नहीं होगा, इसका मैं नहीं होऊंगा, मेरा मैं ही होऊंगा, इसका यह ही होगा" ऐसा निज आत्मा में ही आत्मा का यथार्थ ज्ञान करे तब वह ज्ञानी हो जावेगा। हे आत्मन्! पर पर ही है उसका मोह छोड़ो।

२०—जैसे एक स्फटिक पाषाण स्वच्छ है तथापि उसके समक्ष यदि नाना प्रकारके रंग वाले उपाधिभूत पदार्थ समक्ष हों तो स्फटिक में नाना प्रतिबिम्ब हो जाते हैं। ये विचित्र प्रतिबिम्ब वास्तव में स्फटिक के स्वभाव तो हैं नहीं, तो भी जो अविवेकी इन्हें स्फटिक के स्वभावभाव ही मान बैठे तो वह अज्ञानी है। तथैव यह आत्मा स्वभाव से तो स्वस्वरूप स्वच्छ है तथापि जब तक नाना कर्मोदय की उपाधि का निमित्त है तब तक इस आत्मा में नाना विकार होते हैं, वे विकार आत्मा के स्वभावभाव नहीं हैं, तो भी जो इन्हें स्वभावभाव स्वीकार करता है, पुद्गल द्रव्य मेरा है ऐसा अनुभव करता है तब तक वह अज्ञानी है।

२१ - हे आत्मन्! तू ज्ञानमय है, ज्ञान का ही स्वाद लेता है, ज्ञेय को जानकर ऐसा भ्रम से क्यों मानन करता है कि विषय का स्वाद लेता हूं जैसे कि कोई हाथी अविवेक से घास और हलुवा को मिलाकर ही खाता है वह हलुवा का स्वाद पृथक् से लेना समझता ही नहीं।

२२—हे आत्मन्! जैसे नमक का जल और जल का नमक बन जाता है क्योंकि क्षारपना दोनों दशाओं में रहता है। वैसे यह नहीं समझ लेना कि पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्य बन जावे और जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्य बन जाय क्योंकि जीव और पुद्गल दोनों का लक्षण भिन्न भिन्न है। जीवका लक्षण उपयोग है और पुद्गल सदा उपयोगरहित ही रहता है।

२३—जैसे प्रकाश अंधकार का सदा विरोध है जहां प्रकाश है वहां अंधकार नहीं है और जहां अंधकार है वहां प्रकाश नहीं वैसे उपयोग और अनुपयोगका सदा विरोध है। जहां उपयोग है वहां अनुपयोग नहीं और जहां अनुपयोग है वहां उपयोग नहीं। उपयोग जीव में ही है पुद्गल में अनुपयोग ही है। इसलिए हे आत्मन् विवेक करो, अपने को ही मेरा यह है ऐसा अनुभव कर।

२४—तात्त्विक बात पर आश्चर्य करके अज्ञानी प्रश्न करता है कि मैं तो यह समझता हूँ कि जो आत्मा है वही शरीर पुद्गल द्रव्य है पृथक कुछ नहीं, यदि ऐसा न हो तो ये स्तुतियां मिथ्या हो जावेंगी कि हे भगवन् तुमने अपनी क्रांति से दशों दिशाओं को स्नान करा दिया, तेज के द्वारा बड़े बड़े तेजस्वियों के तेज को रोक दिया, रूप के द्वारा

To report error, please contact vikasnd@gmail.com Version 1

मनुष्यों के मन को हर लिया, दिव्यध्वनि से कानों में अमृत बरसाया। इसके उत्तर में ज्ञानी कहते हैं कि जिस प्रकार सोना और चांदी मिल कर एक पिण्ड हो जावें तो भी सोना सोने में है चांदी चांदी में है एकमेक नहीं हो गये, क्योंकि सोने का स्वभाव पीला है चाँदी का स्वभाव सफेद है लक्षण जुदे जुदे हैं। मात्र एक का व्यवहार है उसी प्रकार आत्मा और शरीर का परस्पर एकक्षेत्रावगाह है तो भी शरीर शरीर में है आत्मा आत्मामें है दोनों एक नहीं हो जाते, क्योंकि दोनों का स्वभाव जुदा है आत्मा का स्वभाव उपयोग है और पुद्गल शरीरका स्वभाव अनुपयोग है। अब रह गई स्तुति की बात सो मात्र यह व्यवहार की बात है जो शरीर की स्तुति से आत्मा की स्तुति का यत्न किया।

२५—जिस प्रकार चांदी का गुण तो सफेद है और सोने का गुण पीलापन है सोने में सफेदी का स्वभाव नहीं है फिर भी चांदी सोने का एक स्कन्ध होने पर ऐसा व्यवहार किया जाता है कि यह सोना सफेद है। उसी प्रकार तीर्थंकर के शरीर का गुण सफेद खून आदि है, आत्मा का गुण उपयोग है, सफेद खून होना आत्मा का स्वभाव नहीं है फिर भी इस असमान जातीयपर्यायरूप एक पिण्ड होने पर यह व्यवहार किया जाता है कि तीर्थंकर केवलीपुरुष सफेद खून वाले हैं। यह मात्र व्यवहार की स्तुति है। निश्चयनय से शरीर की स्तुति से आत्मा की स्तुति नहीं होती (यहां गुण शब्द का अर्थ परिणाम करना)।

२६—जैसे चांदी का गुण जो सफेदीपन है वह सोने में नहीं है इसलिए निश्चय से चांदी के गुण सफेदी के द्वारा सोने का व्यपदेश (ज्ञान) नहीं होता, सोने के गुण से ही सोने का व्यपदेश होगा। वैसे शरीरका गुण जो सफेद खून, सुन्दर रूप आदि है वह तीर्थंकर केवली पुरुष में नहीं होता इसलिए निश्चय से तीर्थंकर भगवान के गुणों से ही तीर्थंकरकेवली की स्तुति होगी शरीर के गुणों से तीर्थंकर की स्तुति नहीं होगी।

२७—यहां अज्ञानी प्रश्न करता है कि जब शरीरका अधिष्ठाता

आत्मा है तब शरीर की स्तुति से आत्मा की स्तुति क्यों न मानी जावे। उत्तर में ज्ञानी कहते हैं कि जैसे नगर का अधिष्ठाता राजा है तो भी नगर का ऐसा वर्णन कर दिया जावे कि इस नगर के बगीचे इतने फैले हुए हैं कि मानों इस नगर ने बगीचों से सारी भूमि निगल ली, मकान इतने ऊंचे हैं कि मानो मकानों ने सारे आकाश को खा डाला, खाई इतनी गहरी हैं कि मानों खाई के द्वारा पाताल को पी लिया। तो क्या इस नगर के वर्णन से राजा का वर्णन हो गया? नहीं हुआ। वैसे शरीर का अधिष्ठाता वर्तमान में आत्मा है तो भी शरीर का कैसा भी उत्तम वर्णन कर दिया जावे कि जिनेन्द्र का रूप महासुन्दर है अक्षोभ है आदि। तो क्या शरीर के इस वर्णन से आत्मा का वर्णन हो गया? नहीं हुआ। क्योंकि तीर्थंकरकेवली यद्यपि इस समय शरीर के अधिष्ठाता हैं तो भी तीर्थंकरकेवली भगवान के शरीर का कोई भी गुण नहीं है इसलिए शरीर की स्तुति से आत्मा की स्तुति नहीं हुई। आत्मा की स्तुति से ही आत्मा की स्तुति होती है जैसे—हे भगवन् आपने ज्ञानस्वभाव की भावना से इन्द्रियों को जीत कर जितेन्द्रियता पाई, आप मोह को जीत कर जितमोह हुए और क्षीणमोह हुए आदि।

२८—जब यह जीव आत्मा और परके स्वरूप को यथार्थ जान जाता है सबको अपने से भिन्न मान लेता है तो ऐसा ज्ञान ही परपदार्थोंका व परभावोंका त्याग है। जैसे दो पुरुष एक धोबीके अपने अपने चादर धोने डाल आये थे। एक पुरुष पहिले उसके यहांसे चादर उठा लाया, किन्तु वह दूसरे पुरुष की थी उसे यह पता नहीं था सो उसको अपनी ही चादर समझकर उसे ओढ़कर निर्भय सो गया। अब दूसरा पुरुष चादर उठाने को धोबी के गया तो उसे अपनी चादर न मिली। धोबी जो दे रहा था वह उसकी न थी। तब धोबी ने बताया कि आपकी चादर अमुकके यहां पहुँच गई। दूसरा पुरुष पहिले पुरुष के घर गया वहां वह सो रहा था सो चादर का एक छोर पकड़कर झटककर दूसरा पुरुष कहने लगा कि भाई जागो जागो, यह चादर

To report error, please contact vikasnd@gmail.com Version 1

आपकी नहीं है मेरी है बदले में आ गई है। बार बार ऐसा कहा तब वह जागा और अपनी चादर के जो चिन्ह थे, उन्हें देखने लगा। जब उसे अपनी चादर के चिन्ह नहीं मिले तो वह उस चादरको उसी समय परकीय समझकर अलगकर देता है। शरीरसे हटाकर देनेमें चाहे विलंब हो जावे भीतरसे तो छूट ही चुकी। यहां देख लो—वास्तव में ज्ञान ही त्याग है। वैसे ही यह आत्मा भ्रमसे कषायादिक औपाधिक भावों को ग्रहण करके अपने मानकर अपनी आत्मामें निश्चय करके मोह नींद में सोता हुआ स्वयं अज्ञानी बना। उसे जब श्री गुरु परभाव का विवेक कराके उसे स्वयंके एकरूप का मान कराते हैं, जगाते हैं, हे आत्मन्! जल्दी जागो प्रतिबोध करो यह आत्मा एक चैतन्य मात्र है ये परभाव तेरे स्वभाव नहीं हैं। बार बार हितमय गुरुवाक्य सुनकर उसने समस्त चिन्होंसे भली-भांति परीक्षा की और निश्चित कर लिया कि मैं चैतन्य मात्र हूँ औपाधिक भाव मैं नहीं हूँ ऐसा ज्ञान व श्रद्धान हुआ कि उन सब परभावों का त्याग हो गया। अब चाहे आत्मभूमि से उनके हटने में चाहे कुछ विलंब भी लगे तो भी भीतर से तो छूट ही गया। इसलिए ज्ञान ही प्रत्याख्यान याने त्याग है।

२६–मैं चैतन्यमात्र हूँ, मोह परभाव है। चैतन्यका और मोहका स्वाद भिन्न भिन्न है। जैसे दही और शक्कर दोनों को मिलाकर एक श्रीखंड बना हो उसमें भी स्वादभेद के पहिचानने वाले दही और शक्करके स्वादभेद को पहिचान जाते हैं। शक्कर दही नहीं है क्योंकि स्वादभेद है। चैतन्यमात्र मैं मोह नहीं हूँ, क्योंकि मोह में और चैतन्य में स्वादभेद है। इसी प्रकार पुद्गलादि पर द्रव्यरूप और उनके विकल्परूप भी मैं नहीं हूँ।

३०—जिस प्रकार अपने हाथ में कोई सोने की चीज लिए हो और भूल जावे तो उसे व्यग्रता होती है, किन्तु उसे ही किसी प्रकार जब ख्याल आ जाता है तब उसे उसका स्पष्ट ज्ञान हो जाता है और व्यग्रता भी नष्ट हो जाती है। उसी प्रकार आत्मा अनादिकाल से मोह में उन्मत्त हुआ अपने आप को भूल रहा था उसको जब

किसी ज्ञानी गुरु ने बार बार समझाया तो जब प्रतिबोध को प्राप्त हुआ तब ही वह अपने आपको परमेश्वरस्वरूप जानकर विश्वास करके और उसके अनुकूल उपयोग रूप आचरण करके अपने आपको चिन्मात्र ज्योतिरूप प्रत्यक्ष प्रतिभासने लगता है।

३१—जिस प्रकार समुद्र के किसी हिस्से पर पतली चादर आड़े पड़ी हो तो उसमें स्नान करना कठिन है। उसी प्रकार ज्ञान-समुद्र पर भ्रम की चादर पड़ी है तो उस ज्ञानसमुद्र में मग्न होना कठिन है। जैसे चादर को हटाकर समुद्र में खूब स्नान किया जा सकता है वैसे भ्रम को हटाकर ज्ञानसमुद्र में स्नान किया जा सकता है। हे आत्मन् भ्रम की चादर हटाओ और निःशंक निर्भर ज्ञानसमुद्र में स्नान करो, ज्ञान में मग्न होओ।

इति पूर्वरंग समाप्त

अथ जीवाजीवाधिकार

३२—जिस प्रकार नाटक में कोई मृत्यु का पाठ कर रहा हो तो अविवेकी देखने वाले दुखी हो जाते हैं कि हाय देखा यह उत्तम पात्र मर गया। परन्तु जिसे यह नाटकरूप दीखता है "कि कोई आदमी पात्र बना है, वह तो मरा नहीं केवल यह वेश और प्रदर्शन किया जा रहा है" वह दुखी नहीं होता। इसी प्रकार जिसे निज अचल चैतन्य ज्योति का परिज्ञान हो गया है, वह संसार के इन क्लेशों को देखकर अधीर व आकुल नहीं हो जाता है, क्योंकि वह जानता है कि आत्मा चैतन्यमात्र है, यह परिणमन इसका अध्रुव वेश है।

३३—प्रश्न–जैसे अंगार कोयला से कालिमा अलग नहीं है, इसी प्रकार प्राकृतिक रागद्वेष से मलिन अध्यवसान परिणाम से भिन्न आत्मा नहीं है या कर्मसे जीव अलग नहीं है या अध्यवसान की संतति से जीव अलग नहीं है या पुण्य पाप या साता असाता से या शरीर से

To report error, please contact vikasnd@gmail.com
Version 1

जीव अलग नहीं है। उत्तर-राग, द्वेष, कर्म, कर्मोदय आदि जिन जिन बातों को जीव मान लिया है वे सब पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं व औपाधिक हैं, वे सब चैतन्यशून्य हैं। ज्ञानी जीवों ने पुदगलद्रव्य के व उनके उन सब परिणमनों से भिन्न चैतन्यमात्र जीवद्रव्य को पाया है; अनुभवा है। उक्त बातों में आगम युक्ति स्वानुभव तीनों से बाधा आती है। पुद्गल के परिणमनों से आत्मा ऐसे भिन्न है जैसे कि किट्ट कालिमा से सुवर्ण भिन्न है।

३४—अज्ञानी पुनः प्रश्न करता है कि जैसे शिखरिणी दही शक्कर की मिलकर एक है, इसी तरह आत्मा और कर्म मिलकर ही जीव है, हमें तो यही समझ में आता है। उत्तर—जैसे सुवर्ण किट्ट कालिमा से अलग है; वैसे जीव पुद्गल कर्म से अत्यन्त अलग है, त्रिकाल में भी आत्मा और कर्म एकरूप नहीं हो सकते।

३५—अज्ञानी पुनः प्रश्न करता है कि जैसे पाया ४ सीरा २ पाटी २ इस प्रकार ८ काठ से अतिरिक्त अन्य कोई खाट नहीं है, वैसे ही ८ कर्मों से अतिरिक्त अन्य कोई जीव नहीं है, आठ कर्मों का संयोग ही जीव है। उत्तर-जैसे खाट पर सोने वाला पुरुष खाट से भिन्न है, वैसे आठ कर्मों के संयोग से भिन्न चैतन्यस्वभाव जीव द्रव्य अलग है, ऐसा भेद ज्ञानियों ने स्वयं प्राप्त किया है।

३६—सिद्धान्त ग्रन्थों में जो त्रस स्थावर आदि को जीव कहा है, वह व्यवहारनय से कहा है। जैसे म्लेच्छ पुरुषों को किसी संस्कृत शब्द में आशीर्वाद दिया, तो जब तक म्लेच्छ भाषा में उलथा करके उसे समझाया न जावे वह समझ नहीं सकता, वैसे जो जीव के सहज स्वभावसे अनभिज्ञ हैं, ऐसे व्यवहारी जनों को "चैतन्य" इतने शब्दसे न समझ सकने के कारण जीव की विकारी पर्यायों, असमानजातीय पर्यायों का आश्रय लेकर समझाना पड़ता है, सो यद्यपि यह अभूतार्थ है, तथापि अभूतार्थ व्यवहारनय के आश्रय से दिखाना उचित ही है।

३७—जिस प्रकार सेनासहित राजा कहीं जा रहा हो और कोई पूछे यह कौन जा रहा है? तो यह उत्तर मिलता है कि यह राजा जा रहा है। वास्तव में देखो तो राजा पांच योजन में फैलकर तो नहीं जा रहा है, वह तो एक पुरुषमात्र है फिर भी सेना समुदायमें राजा का व्यवहार किया जाता है। उसी प्रकार एक सहज शुद्ध आत्मा समस्त रागादि पर्यायों में व्याप्त नहीं होता, तथापि उन समस्त पर्यायों में सम्बन्ध या परिणमन के कारण यह जीव है, ऐसा व्यवहार किया जाता है। वास्तव में तो आत्मा एकरूप है, उसके न वर्ण हैं न गंध हैं और न गुणस्थान जीवस्थान आदि हैं, वह तो सदा एकरूप है।

३८—जीव रूपरसगंधस्पर्शशब्द से रहित अनुभवगम्य चेतन गुणात्मक है, जीव में वर्ण आदिक राग आदिक गुणस्थान आदिक नहीं है, क्योंकि ये पुद्गल के उपादान में या पुद्गल के निमित्त से होते हैं और स्वानुभव से भिन्न तत्व हैं। तथापि अनेक ग्रन्थों में इन्हें जीव कहे गये हैं, वह सब निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धमात्र के कारण व्यवहार से जीवके समझना। निश्चयनयसे ये कोई भाव जीवके नहीं हैं। जैसे-कुसुंभ (कौसुमी) रंग में रंगे हुए सूती वस्त्रको देखकर लोग यह कहते हैं कि यह कपड़े का रंग है। निश्चय से वह रंग का रंग है, कपड़ा तो केवल वही है, जैसा कि पहिले था, किन्तु रंग के सम्बन्ध से हुए कपड़े की व्यक्त शक्ल को देखकर लोग यही कहते हुए पाये जाते हैं कि रंग वस्त्र का है, यह व्यवहार है। इसी प्रकार निश्चय से तो आत्मा आत्मद्रव्यस्वरूप है, परन्तु औपाधिक भावों की दृष्टि से देखा जाय तो रागादिक सब जीव के कहे जाते हैं, यह सब व्यवहारनय से है।

३९—जैसे पानी मिले हुए दूधका पानी के साथ यद्यपि परस्पर अवगाह रूप सम्बन्ध है, तथापि लक्षणों से देखो-क्षीरत्व गुण दूध में

To report error, please contact vikasnd@gmail.com Version 1

ही रहता है जो कि पानी में नहीं है, तब दूध का पानी के साथ तादात्म्य सम्बन्ध तो नहीं कहा जा सकता, जैसे कि अग्नि का तादात्म्य उष्णता के साथ है; यही कारण है कि निश्चय से दूध का पानी कुछ नहीं है। इसी प्रकार वर्णादिक व रागादिक पुद्गलद्रव्य के परिणामों से मिले हुए आत्मा का यद्यपि पुद्गलद्रव्य के साथ परस्पर अवगाह-रूप सम्बन्ध है, तथापि लक्षणों से देखो उपयोग (ज्ञान दर्शन) गुण आत्मा में ही रहता है, अन्य किसी द्रव्य में नहीं रहता, तब आत्मा का अन्य सब द्रव्य व पुद्गल परिणामों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध तो नहीं कहा जा सकता, जैसे कि अग्नि का उष्ण गुण के साथ तादात्म्य है, यही कारण है कि निश्चयसे आत्मा के वर्णादिक व रागादिक कोई भी पुद्गल परिणाम नहीं है ।

४०—जैसे जिस रास्ते में स्थित धनी को चोर लूट लेते हैं, उस रास्तेमें स्थित होनेके कारण लोग ऐसा कहने लगते हैं कि यह रास्ता लुटता है, यह उपचार से कहा गया है, किन्तु निश्चय से देखो तो रास्ता तो उस जगहके आकाश के प्रदेश हैं सो रास्ता कैसे लुट सकता, नहीं लुटता। इसी प्रकार जिस जीव में बन्धपर्याय से अवस्थित कर्म नोकर्म रागादिक देखे जाते हैं। उस जीव में रहने के कारण याने सम्बन्ध होने के कारण लोग ऐसा कह देते हैं कि ये वर्णादि रागादि जीव के हैं, यह उपचार से कहा जाता है, किन्तु निश्चय से देखो तो जीव तो ज्ञानदर्शन स्वभाव वाला है। अमूर्त है सो जीव के रागादिक वर्णादिक कैसे हो सकते हैं, नहीं होते। क्योंकि जीव का उनके साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि जो जिस स्वरूप से सदा रहे, जिस स्वरूप बिना कभी रहता ही नहीं, उसका उससे तादात्म्य सम्बन्ध होता है। सो यद्यपि संसारावस्था में रागादि वर्णादि का कथंचित् सम्बन्ध है तो भी मोक्षावस्था में तो नहीं है। इससे सिद्ध है कि वर्णादिक व रागादिक भाव जीव नहीं है।

४१—जैसे सुवर्ण के द्वारा रचा गया आभूषण सोना ही है,

वैसे ही पुद्गल नाम कर्म द्वारा रचे गये बादर सूक्ष्म त्रस स्थावर आदि जीवस्थान पुद्गल ही हैं, जीव नहीं हैं।

४२—सिद्धान्त शास्त्रों में ये सब जीव के भेदरूप से कहे गये हैं; वे कुछ प्रयोजनवश कहे गये हैं। जैसे कोई पुरुष जन्म से ही एक घीके घड़ेको समझता है। उसके सिवाय दूसरे घड़ेको जानता नहीं, तो उसे यथार्थ बात समझानेके लिए यही तो कहना पड़ता है कि "जो यह घी का घड़ा है सो मिट्टीमय है घृतमय नहीं है।" इस तरह समझाने वाले उस घड़े में घी के घड़े का व्यवहार करते हैं, क्योंकि समझाया तो उन्हें जा रहा है जिसे "घी का घड़ा" ही ज्ञात है। वैसे ही अज्ञानी जीवों को अनादि से ही अशुद्ध जीव का परिचय है। वे शुद्ध जीवस्वरूप को जानते ही नहीं हैं, सो उन्हें समझाने के लिए इस व्यवहार का आश्रय करना पड़ता है कि देखो जो यह वर्णादिमान जीव है सो ज्ञानमय है, वर्णादिमय नहीं। चूंकि अज्ञानी जीव को वर्णादिमान जीव ही ज्ञात है। अतः इसके प्रतिबोधके प्रयोजनके लिए बादर सूक्ष्म पर्याप्त अपर्याप्त आदि संज्ञाओं को जीवसंज्ञारूप से सिद्धान्त शास्त्रों में कहा गया है। निश्चय से वर्णादिक जीव नहीं है।

४३—तथा यह भी सही है कि रागादिक भाव भी जीव नहीं है। जैसे यवपूर्वक होने वाले यव (जौ) यव ही कहलाते हैं, इसी प्रकार पौद्गलिक मोहनीयकर्मके विपाकपूर्वकपना होनेपर होनेवाले ये अचेतन रागादिक पुद्गल ही समझना, ये जीव नहीं है। भेदज्ञानियों ने चैतन्य स्वभाव से भिन्न रूप ही उनका निर्णय किया है, सो रागादिक गुण-स्थानादिक सब अचेतन हैं, अचेतन पुद्गल कर्मके उदय के निमित्त से होते हैं, अतः रागादिक जीव नहीं है। जीव का लक्षण अनादि अनंत अचल चैतन्य ही है। रागादिक जीव में अव्याप्त है, अमूर्तत्व जीव के अतिरिक्त आकाशादिक अजीव में अतिव्याप्त है, सो ये दोनों जीव के लक्षण नहीं। जीव का निर्दोष लक्षण चैतन्य है।

४४— जैसे अनेक अवयवों वाले काठ को विभागयोग्य जान कर कुशल कारीगर उस संधि पर जहां से विभाग होना है, करौंत को

बार बार चलाता है, उसके फलस्वरूप उन भागों का विघटन हो जाता है, फिर करौंत चलाने की आवश्यकता नहीं और वहां करौंत जगमगाती स्वतन्त्र अपनी शोभा रखने लगती है। वैसेही जीव अजीव इन अनेक द्रव्यों के इस पिण्ड को विभाग योग्य जानकर ज्ञानीभेद विज्ञान का बार बार अभ्यास करता है और प्रयोग करता है, उस संधि पर जहां से जीव अजीव का विभाग होना है। इसके फलस्वरूप जीव अजीव का स्पष्ट विघटन हो जाता है, फिर भेदविज्ञान के अभ्यास की आवश्यकता नहीं, वहां तो अब अभेदस्वभाव आत्मा के निर्विकल्प अनुभव से यह आत्मद्रव्य बड़े वेग से उत्कृष्टरूप से प्रकाशमान चकासमान हो जाता है। इस तरह जीव और अजीव जो रंगभूमि में वेश धर कर नाच रहे थे वे पृथक होकर निकल जाते हैं, स्वतन्त्र अनुभव में आ जाते हैं।

इति जीवाजीवाधिकार समाप्त

अथ कर्तृकर्माधिकारः

४५—जीव परिणमनशील है, वह परिणमता रहता है परन्तु उपाधि के निमित्त से तो विभावरूप (क्रोधादिरूप) परिणम जाता है और उपाधि का निमित्त न बनने पर स्वभाव को अनुरूप परिणम जाता है। जीव जब विभाव परिणामों में कर्तृत्वबुद्धि करता है अथवा उनमें आत्मबुद्धि करता है, तब वह कर्मों के महान बन्धन बना लेता है। वही जीव अन्तरात्मा होकर जब निज ध्रुव स्वभावमें और विभाव में अन्तर जान लेता है और कर्तत्वबुद्धि दूर कर लेता है, तब कर्मों का बन्धन दूर होता है। यह भेदविज्ञान किस प्रकार होता है ?

जैसे-जल में काई है वह जल का तो स्वभाव है नहीं, जल में केवल वह गन्दगीरूप है सो गन्दी काई है, जल गन्दा नहीं है। इसी

प्रकार जीव में परभाव विभाव (रागादि) हैं, सो अशुचि विभाव हैं, जीवद्रव्य अशुचि नहीं। इस प्रकार आत्मद्रव्य में और रागादि में अन्तर ज्ञान होता है।

जैसे काई स्वयं ऐसी प्रसर्पित नहीं है, जल स्वयं प्रसर्पित है, इसी प्रकार विभाव स्वयं चेतक नहीं वह जीव द्वारा चेत्य है, परन्तु जीव स्वयं चेतक है। ऐसा आत्मद्रव्य में और रागादि में अन्तर ज्ञान होता है।

जैसे काई अन्य की गन्दगी का भी कारण है, परन्तु जल गन्दगी का कारण नहीं। इस प्रकार विभाव आकुलता का कारण है, परन्तु आत्मा आकुलता का कारण नहीं है। ऐसे आत्मद्रव्य में और रागादि में अन्तर ज्ञान होता है।

४६—जब आत्मद्रव्य में व विभाव में भेदविज्ञान होता है, उसी समय विभाव की निवृत्ति होने लगती है। इसका काल प्रबल भेदविज्ञान है। जैसे वृक्ष में लाख लग जावे तो लाख तो घातक होता है और वृक्ष बध्य होता है। इसी प्रकार जीव में विभाव लग जाता है तो विभाव तो घातक है और जीव बध्य है। ऐसा महान् अन्तर तत्त्व-ज्ञानी को निश्चित हो जाता है।

४७—जैसे मृगी रोग का वेग कभी घटता है, कभी बढ़ता है। इसी प्रकारके ये विभाव हैं, कभी घटते हैं, कभी बढ़ते हैं अर्थात अध्रुव हैं। इस तरह आत्मद्रव्य अध्रुव नहीं है, वह चैतन्यमात्र है और इस स्वरूप से सदा अचल है। इस प्रकार तत्त्वज्ञानी जीव को आत्मद्रव्य और विभावमें अन्तर निश्चित हो जाता है।

४८—जैसे शीत ज्वर का दाह एक स्थिति पर नहीं रहता है। वह क्रम से बढ़ता घटता है अतएव अनित्य है। वैसे ही ये विभाव एक स्थिति पर नहीं रहते, ये भी बढ़ते घटते रहते हैं अतएव रागादि विभाव भी अनित्य हैं। किन्तु, मात्र चैतन्यस्वभावी जीव स्वभाव में अपरिवर्तित होने से नित्य है। इस प्रकार तत्त्वज्ञानी को स्वद्रव्य और

विभाव में अन्तर निश्चित हो जाता है।

४६—जैसे कामी पुरुषके देहवीर्य के अलग होते ही कामविकार संस्कार को रखने में कोई समर्थ नहीं है सो जैसा यह कामसंस्कार अशरण है। इसी तरह संसारी जीव के बद्ध कर्म के उदय होते ही औदयिक विभाव होकर नष्ट होते हैं, उन्हें फिर कोई एक पल भी रखने में याने बचाने में समर्थ नहीं है। किन्तु, यह आत्मतत्त्व स्वयं त्रिकाल सुरक्षित है, शरणभूत है। ऐसा अन्तरबोध तत्त्वज्ञानी के हो जाता है।

यहां इतनी विशेषता जानना कि जैसे वीर्य निर्मोक्ष से काम-संस्कार सर्वथा समाप्त नहीं होता है, किन्तु कुछ क्षण बाद फिर काम-विकार जागृत हो जाता है। यह कुभाव तो ज्ञान भाव से समाप्त होता है। इसी तरह कर्मोदय हो लेने पर विभाव संस्कार सर्वथा समाप्त नहीं होता है, किन्तु द्वितीय क्षण में ही कर्मोदय निमित्तक विभाव फिर जागृत हो जाता है। विभाव तो ज्ञानभावना से ही समाप्त होता है।

इतने पर भी बात कहीं समाप्त नहीं होती, ये विभाव अपने काल में आकुलतास्वभावी होने से साक्षात् दुःखरूप हैं और इस निमित्त में बंधे हुए कर्मों का भविष्यकाल में जब उदय अथवा उदीरणा होगी उस काल में भी दुःख भोगना पड़ेगा। अतः इनका दुःख ही फल है। किन्तु आत्मा अनाकुलस्वभावी है, अतः दुःखरूप नहीं है और न आत्मतत्त्व भविष्यकाल में किसी द्विविधा का कारण है, अतः इसका फल भी अनाकुलता ही है। ऐसा अन्तरज्ञान तत्त्वज्ञानी के हो जाता है।

५०—ऐसा अन्तरज्ञान होते ही कर्मोदय शिथिल हो जाता है याने विभाव शिथिल हो जाता है और आत्मा का सहज चैतन्य शुद्ध विकास बढ़ जाता है। जैसे कि जब मेघपटल विघटित होते हैं तब दिशायें स्वच्छ हो जाती हैं और प्रकाश सर्वत्र बढ़ जाता है।

वैसे ही पुद्गल नाम कर्म द्वारा रचे गये बादर सूक्ष्म त्रस स्थावर आदि जीवस्थान पुद्गल ही हैं, जीव नहीं हैं।

४२—सिद्धान्त शास्त्रों में ये सब जीव के भेदरूप से कहे गये हैं; वे कुछ प्रयोजनवश कहे गये हैं। जैसे कोई पुरुष जन्म से ही एक घीके घड़ेको समझता है। उसके सिवाय दूसरे घड़ेको जानता नहीं, तो उसे यथार्थ बात समझानेके लिए यही तो कहना पड़ता है कि "जो यह घी का घड़ा है सो मिट्टीमय है घृतमय नहीं है।" इस तरह समझाने वाले उस घड़े में घी के घड़े का व्यवहार करते हैं, क्योंकि समझाया तो उन्हें जा रहा है जिसे "घी का घड़ा" ही ज्ञात है। वैसे ही अज्ञानी जीवों को अनादि से ही अशुद्ध जीव का परिचय है। वे शुद्ध जीवस्वरूप को जानते ही नहीं हैं, सो उन्हें समझाने के लिए इस व्यवहार का आश्रय करना पड़ता है कि देखो जो यह वर्णादिमान जीव है सो ज्ञानमय है, वर्णादिमय नहीं। चूंकि अज्ञानी जीव को वर्णादिमान जीव ही ज्ञात है। अतः इसके प्रतिबोधके प्रयोजनके लिए बादर सूक्ष्म पर्याप्त अपर्याप्त आदि संज्ञाओं को जीवसंज्ञारूप से सिद्धान्त शास्त्रों में कहा गया है। निश्चय से वर्णादिक जीव नहीं है।

४३—तथा यह भी सही है कि रागादिक भाव भी जीव नहीं है। जैसे यवपूर्वक होने वाले यव (जौ) यव ही कहलाते हैं, इसी प्रकार पौद्गलिक मोहनीयकर्मके विपाकपूर्वकपना होनेपर होनेवाले ये अचेतन रागादिक पुद्गल ही समझना, ये जीव नहीं है। भेदज्ञानियों ने चैतन्य स्वभाव से भिन्न रूप ही उनका निर्णय किया है, सो रागादिक गुण-स्थानादिक सब अचेतन हैं, अचेतन पुद्गल कर्मके उदय के निमित्त से होते हैं, अतः रागादिक जीव नहीं है। जीव का लक्षण अनादि अनंत अचल चैतन्य ही है। रागादिक जीव में अव्याप्त है, अमूर्तत्व जीव के अतिरिक्त आकाशादिक अजीव में अतिव्याप्त है, सो ये दोनों जीव के लक्षण नहीं। जीव का निर्दोष लक्षण चैतन्य है।

४४—जैसे अनेक अवयवों वाले काठ को विभागयोग्य जान कर कुशल कारीगर उस संधि पर जहां से विभाग होना है, करौंत को

बार बार चलाता है, उसके फलस्वरूप उन भागों का विघटन हो जाता है, फिर करौंत चलाने की आवश्यकता नहीं और वहां करौंत जगमगाती स्वतन्त्र अपनी शोभा रखने लगती है। वैसेही जीव अजीव इन अनेक द्रव्यों के इस पिण्ड को विभाग योग्य जानकर ज्ञानीभेद विज्ञान का बार बार अभ्यास करता है और प्रयोग करता है, उस संधि पर जहां से जीव अजीव का विभाग होना है। इसके फलस्वरूप जीव अजीव का स्पष्ट विघटन हो जाता है, फिर भेदविज्ञान के अभ्यास की आवश्यकता नहीं, वहां तो अब अभेदस्वभाव आत्मा के निर्विकल्प अनुभव से यह आत्मद्रव्य बड़े वेग से उत्कृष्टरूप से प्रकाशमान चकासमान हो जाता है। इस तरह जीव और अजीव जो रंगभूमि में वेश धर कर नाच रहे थे वे पृथक होकर निकल जाते हैं, स्वतन्त्र अनुभव में आ जाते हैं।

इति जीवाजीवाधिकार समाप्त

—— * ——

अथ कर्तृकर्माधिकारः

४५—जीव परिणमनशील है, वह परिणमता रहता है परन्तु उपाधि के निमित्त से तो विभावरूप (क्रोधादिरूप) परिणम जाता है और उपाधि का निमित्त न बनने पर स्वभाव को अनुरूप परिणम जाता है। जीव जब विभाव परिणामों में कर्तृत्वबुद्धि करता है अथवा उनमें आत्मबुद्धि करता है, तब वह कर्मों के महान बन्धन बना लेता है। वही जीव अन्तरात्मा होकर जब निज ध्रुव स्वभावमें और विभाव में अन्तर जान लेता है और कर्तत्वबुद्धि दूर कर लेता है, तब कर्मों का बन्धन दूर होता है। यह भेदविज्ञान किस प्रकार होता है ?

जैसे–जल में काई है वह जल का तो स्वभाव है नहीं, जल में केवल वह गन्दगीरूप है सो गन्दी काई है, जल गन्दा नहीं है। इसी

प्रकार जीव में परभाव विभाव (रागादि) हैं, सो अशुचि विभाव हैं, जीवद्रव्य अशुचि नहीं। इस प्रकार आत्मद्रव्य में और रागादि में अन्तर ज्ञान होता है।

जैसे काई स्वयं ऐसी प्रसर्पित नहीं है, जल स्वयं प्रसर्पित है, इसी प्रकार विभाव स्वयं चेतक नहीं वह जीव द्वारा चेत्य है, परन्तु जीव स्वयं चेतक है। ऐसा आत्मद्रव्य में और रागादि में अन्तर ज्ञान होता है।

जैसे काई अन्य की गन्दगी का भी कारण है, परन्तु जल गन्दगी का कारण नहीं। इस प्रकार विभाव आकुलता का कारण है, परन्तु आत्मा आकुलता का कारण नहीं है। ऐसे आत्मद्रव्य में और रागादि में अन्तर ज्ञान होता है।

४६—जब आत्मद्रव्य में व विभाव में भेदविज्ञान होता है, उसी समय विभाव की निवृत्ति होने लगती है। इसका काल प्रबल भेदविज्ञान है। जैसे वृक्ष में लाख लग जावे तो लाख तो घातक होता है और वृक्ष बध्य होता है। इसी प्रकार जीव में विभाव लग जाता है तो विभाव तो घातक है और जीव बध्य है। ऐसा महान् अन्तर तत्त्व-ज्ञानी को निश्चित हो जाता है।

४७—जैसे मृगी रोग का वेग कभी घटता है, कभी बढ़ता है। इसी प्रकारके ये विभाव हैं, कभी घटते हैं, कभी बढ़ते हैं अर्थात अध्रुव हैं। इस तरह आत्मद्रव्य अध्रुव नहीं है, वह चैतन्यमात्र है और इस स्वरूप से सदा अचल है। इस प्रकार तत्त्वज्ञानी जीव को आत्मद्रव्य और विभावमें अन्तर निश्चित हो जाता है।

४८—जैसे शीत ज्वर का दाह एक स्थिति पर नहीं रहता है। वह क्रम से बढ़ता घटता है अतएव अनित्य है। वैसे ही ये विभाव एक स्थिति पर नहीं रहते, ये भी बढ़ते घटते रहते हैं अतएव रागादि विभाव भी अनित्य हैं। किन्तु, मात्र चैतन्यस्वभावी जीव स्वभाव में अपरिवर्तित होने से नित्य है। इस प्रकार तत्त्वज्ञानी को स्वद्रव्य और

विभाव में अन्तर निश्चित हो जाता है।

४६—जैसे कामी पुरुषके देहवीर्य के अलग होते ही कामविकार संस्कार को रखने में कोई समर्थ नहीं है सो जैसा यह कामसंस्कार अशरण है। इसी तरह संसारी जीव के बद्ध कर्म के उदय होते ही औदयिक विभाव होकर नष्ट होते हैं, उन्हें फिर कोई एक पल भी रखने में याने बचाने में समर्थ नहीं है। किन्तु, यह आत्मतत्त्व स्वयं त्रिकाल सुरक्षित है, शरणभूत है। ऐसा अन्तरबोध तत्त्वज्ञानी के हो जाता है।

यहां इतनी विशेषता जानना कि जैसे वीर्य निर्मोक्ष से काम-संस्कार सर्वथा समाप्त नहीं होता है, किन्तु कुछ क्षण बाद फिर काम-विकार जागृत हो जाता है। यह कुभाव तो ज्ञान भाव से समाप्त होता है। इसी तरह कर्मोदय हो लेने पर विभाव संस्कार सर्वथा समाप्त नहीं होता है, किन्तु द्वितीय क्षण में ही कर्मोदय निमित्तक विभाव फिर जागृत हो जाता है। विभाव तो ज्ञानभावना से ही समाप्त होता है।

इतने पर भी बात कहीं समाप्त नहीं होती, ये विभाव अपने काल में आकुलतास्वभावी होने से साक्षात् दुःखरूप हैं और इस निमित्त में बंधे हुए कर्मों का भविष्यकाल में जब उदय अथवा उदी-रणा होगी उस काल में भी दुःख भोगना पड़ेगा। अतः इनका दुःख ही फल है। किन्तु आत्मा अनाकुलस्वभावी है, अतः दुःखरूप नहीं है और न आत्मतत्त्व भविष्यकाल में किसी द्विविधा का कारण है, अतः इसका फल भी अनाकुलता ही है। ऐसा अन्तरज्ञान तत्त्वज्ञानी के हो जाता है।

५०—ऐसा अन्तरज्ञान होते ही कर्मोदय शिथिल हो जाता है याने विभाव शिथिल हो जाता है और आत्मा का सहज चैतन्य शुद्ध विकास बढ़ जाता है। जैसे कि जब मेघपटल विघटित होते हैं तब दिशायें स्वच्छ हो जाती हैं और प्रकाश सर्वत्र बढ़ जाता है।

इस प्रकार तत्त्वज्ञानी जीव के जैसे जैसे ज्ञानस्वभाव विशेष स्वच्छ व्यक्त होता जाता है, वैसे वैसे आस्रवों से निवृत्ति होती जाती है और जैसे जैसे आस्रवों से निवृत्ति होती जाती है वैसे वैसे विज्ञान घनस्वभाव व्यक्त होता जाता है।

विज्ञान घनस्वभाव तब तक उज्जम्भमाण होता रहता है जब तक कि आस्रवों से संपूर्णतया निवृत्ति हो जाती है और आस्रवों से तब तक निवृत्ति होती रहती है जब तक कि विज्ञान घनस्वभाव पूर्ण प्रकट हो जाता है।

५१—इस प्रकार संपूर्ण आस्रवनिवृत्ति का व सर्वथा सम्पूर्ण ज्ञान विकास का समय एक है और तत्त्वज्ञान के अनन्तर व केवलज्ञान से पहिले भी प्रत्येक क्षण यथायोग्य आस्रवनिवृत्ति व ज्ञानविकास है, उसका भी क्षण एक है। जैसे कि मेघपटल की निवृत्ति व प्रकाश का विकास दोनों का एक क्षण है।

५२—आस्रव की निवृत्ति का साधकतम भेदविज्ञान है। भेद-विज्ञान में यह प्रकाश रहता है, कि आत्मा कर्म के परिणमन को व नोकर्म (शारीरादि) के परिणमन को करता नहीं है। कर्म व नोकर्म के परिणमन को आत्मा क्यों नहीं करता? इस कारण कि कर्म व नोकर्म जुदा पदार्थ हैं और आत्मा उन दोनों से जुदा पदार्थ है। जैसे घट और कुम्हार ये दो जुदी चीज हैं इस कारण घट के परिणमन को कुम्हार नहीं करता है।

५३—फिर कर्म, नोकर्म के परिणमन को कौन करता है? कर्म पुद्गल की पर्याय है व नोकर्म भी पुद्गल की पर्याय है। कर्म परिणमन का पुद्गल से व्याप्यव्यापक भाव है। शारीरादि नोकर्म परिणमन का भी पुद्गल से व्याप्यव्यापक भाव है। जिन पुद्गल स्कन्धों का कर्म परिणमन है, वे पुद्गल स्कन्ध कर्म को करते हैं। जिन पुद्गल स्कन्धों का शारीरादि परिणमन है, वे पुद्गल स्कन्ध शारीरादि नो-कर्मको करते हैं। जैसे घट परिणमन को कौन करता है? घट मिट्टी

To report error, please contact vikasnd@gmail.com Version 1

से बना हुआ है, जिस मिट्टी पिण्ड का घट परिणमन हुआ है, वह मिट्टी पिण्ड घट परिणमन को करता है ।

५४—कर्म के परिणाम क्या हैं ? परिणाम शब्द से दो ध्वनि निकलती हैं—(१) फल, (२) परिणमन। वस्तुतः कर्म का फल भी कर्म का परिणमन है, फिर भी कर्म के उदय को निमित्त पाकर आत्मा में जो मोह, राग, द्वेष, सुख, दुःख आदि विभाव होते हैं, वे भी कर्म के परिणाम कहे जाते हैं। सो इनका कर्म के साथ अन्वय व्यतिरेक है, याने कर्मोदय होने पर ही होते हैं, कर्मोदय बिना नहीं होते, अतः ये कर्म के परिणाम हैं। जैसे कि दर्पण के सामने कोई रंग बिरंगा खिलौना रख दिया जावे तो दर्पण में उस खिलौने के अनुरूप प्रतिबिम्ब बन जाता है। वह प्रतिबिम्ब खिलौने का परिणाम है, क्योंकि उस छाया का खिलौने के साथ अन्वय व्यतिरेक है, याने उस खिलौने के समक्ष होने पर ही होता है। खिलौने के हट जाने पर निवृत्त हो जाता है। इस ही को स्फटिक व डाफ पर से घटा लिया जावे।

५५—कर्म परिणमन का कर्ता कर्म है। यह तो अत्यन्त स्पष्ट ही है। नोकर्म के परिणाम क्या हैं? शरीर का किसी स्पर्श, रस, गंध, वर्णरूप परिणमना, मोटा पतला आदि रूप परिणमना शरीर का (नोकर्म का) परिणाम है अर्थात जिन पुदगल स्कन्धों का वह परिणमन है, उनका परिणाम है। इनका कर्ता ये पुद्गल स्कन्ध है। जैसे घट परिणमन का अर्थात कम्बुग्रीवादि आकार व उन उन स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण का कर्ता मिट्टी है। जिन का व्याप्यव्यापक सम्बन्ध होता है, उनमें कर्म व कर्ता का व्यवहार होता है।

५६—प्रश्न—यदि पुद्गल परिणाम व जीव में कुछ भी सम्बन्ध नहीं, तो फिर इन्हीं में क्यों सन्देह हुआ ? उत्तर—पुद्गल परिणाम में व जीव में ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है, कर्ता कर्म सम्बन्ध नहीं। जीव पुद्गल परिणाम का कर्ता नहीं, किन्तु ज्ञाता है। जैसे कि कुम्हार घट परिणमन का कर्ता नहीं, किन्तु ज्ञाता है।

५७—प्रश्न—जीव पुद्गल परिणमन का ज्ञाता ही सही, इस प्रकार भी तो ज्ञाता जीव व्यापक हो गया व पुद्गल परिणाम व्याप्य होगया ? उत्तर—नहीं, पुद्गल व आत्मा के ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध होने पर भी जीव में पुद्गल परिणाम व्याप्य नहीं है, किन्तु पुद्गल परिणाम को विषय करके जो पुद्गल परिणाम विषयक ज्ञान हो रहा है, उस ज्ञान के साथ उस समय जीव का व्याप्यव्यापक भाव हो रहा है। जैसे—कुम्हार का घट परिणमन के साथ व्यापकव्याप्य सम्बन्ध नहीं है, किन्तु घट परिणाम को विषय करके जो घट विषयक ज्ञान हो रहा है, उस ज्ञान के साथ उस जीव का (कुम्हार का) उस समय व्याप्यव्यापक सम्बन्ध हो रहा है।

५८—व्याप्यव्यापक भाव के बिना कर्ता कर्म की सिद्धि नहीं होती। व्याप्यव्यापक भाव भिन्न भिन्न द्रव्यों में नहीं होता क्योंकि सर्व द्रव्य स्वयं स्वतन्त्र हैं। इस प्रकार के ज्ञान प्रकाश से ज्यों ही अज्ञानान्धकार नष्ट होता है, त्यों ही यह आत्मतत्त्व ज्ञानियों को कर्तृत्वशून्य दृष्टिगोचर होता है; जैसे सूर्य के प्रखर तेज से ज्यों ही अन्धकार नष्ट होता है, त्यों ही दर्शकों को यह सूर्य प्रभाव विशद दृष्टिगोचर होता है।

५९—प्रश्न—ज्ञानी जीव पुद्गल कर्म को जानता है, फिर जीव का पुद्गल के साथ कर्ताकर्मभाव क्यों नहीं है ? उत्तर—जैसे मन्दिर को जाते हुए किसी भक्त को कोई पुरुष जान रहा है (देख रहा है); तो क्या दर्शक पुरुष उस भक्त का या भक्त के गमन का कर्ता हो जायगा ? कभी नहीं, इसी प्रकार पौद्गलिक स्कन्ध खुद अपने में कर्मत्व पर्याय को ग्रहण कर रहा है उसे कोई आत्मा जाने तब क्या वह आत्मा पुद्गलकर्म का कर्ता हो जायगा ? कभी नहीं।

६०—जैसे डाले गये योग्य दही आदि के सम्बन्ध से दूध दूध अवस्था को दही रूप परिणम जाता है, इसे जानने वाला वह जामन डालने वाला पुरुष क्या दही परिणमन का कर्ता हो जाता है ? कभी नहीं, इसी प्रकार योग्य जीव परिणामों का निमित्त पाकर कार्माण-

To report error, please contact vikasnd@gmail.com Version 1

वर्गणा अकर्मत्व अवस्था को त्यागकर कर्मरूप परिणम जाता है, इसे जानने वाला वह जीव क्या पुद्गल कर्म का कर्ता हो जायगा ? कभी नहीं ।

६१—जैसे अपने ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न को करते हुए लुहार के पास लोहा तलवाररूप बन रहा है, तलवाररूप अवस्था में लोहा परिणम रहा है, इसे जानने वाला वह लुहार क्या लोहे का अथवा तलवार का कर्ता हो जायगा याने क्या लुहार तलवार पर्याय में परिणम जायगा ? कभी नहीं; इसी प्रकार अपने ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न को करते हुए जीव के पास याने कार्माणवर्गणा कर्मरूप बन रही है, कर्मत्व अवस्थामें परिणम रही है, इसे जानने वाला वह जीव क्या पुद्गल कर्म का कर्ता हो जावेगा याने क्या जीव पुद्गल कर्मपर्याय में परिणम जावेगा ? कभी नहीं।

६२—प्रत्येक पदार्थ मात्र अपनी ही वर्तमान पर्याय को व्यापकर ग्रहण करता है, व्यापकर उस ही पर्यायरूप परिणमता है, व्यापकर उस ही पर्यायरूप से उत्पन्न होता है। जैसे कि मिट्टी ही व्यापकर मृण्मय घट अवस्था को ग्रहण कर रही है, मिट्टी ही व्यापकर घट अवस्था रूप परिणम रही है, मिट्टी ही व्यापकर उस पर्याय रूप से उत्पन्न है, उसको जानने वाला कुम्हार या अन्य पुरुष हो तो क्या उस पुरुष के साथ घट का कर्ताकर्मभाव बन जायगा ? कभी नहीं; इसी प्रकार पौद्गलिक कार्माणवर्गणायें ही व्यापकर कर्मरूप अवस्था को ग्रहण करती हैं, कर्म पर्यायरूप से परिणमती हैं, कर्म पर्यायरूप से उत्पन्न होती हैं, उसको जानने वाला वह जीव जिसके एक क्षेत्रावगाह में पुद्गल कर्म भी है, क्या उस ज्ञाता जीव के साथ पुद्गलकर्म का कर्ताकर्मभाव हो जायगा ? कभी नहीं।

६३—प्रश्न—आत्मा ज्ञानावरण के क्षयोपशम के अनुकूल अपने परिणाम को जानता है, ऐसे इस आत्मा का पुद्गल कर्म के साथ कर्ताकर्म भाव क्यों नहीं है ? उत्तर—आत्मा का परिणाम आत्मा में ही

इस प्रकार तत्त्वज्ञानी जीव के जैसे जैसे ज्ञानस्वभाव विशेष स्वच्छ व्यक्त होता जाता है, वैसे वैसे आस्रवों से निवृत्ति होती जाती है और जैसे जैसे आस्रवों से निवृत्ति होती जाती है वैसे वैसे विज्ञान घनस्वभाव व्यक्त होता जाता है।

विज्ञान घनस्वभाव तब तक उज्जम्भमाण होता रहता है जब तक कि आस्रवों से संपूर्णतया निवृत्ति हो जाती है और आस्रवों से तब तक निवृत्ति होती रहती है जब तक कि विज्ञान घनस्वभाव पूर्ण प्रकट हो जाता है।

५१—इस प्रकार संपूर्ण आस्रवनिवृत्ति का व सर्वथा सम्पूर्ण ज्ञान विकास का समय एक है और तत्त्वज्ञान के अनन्तर व केवलज्ञान से पहिले भी प्रत्येक क्षण यथायोग्य आस्रवनिवृत्ति व ज्ञानविकास है, उसका भी क्षण एक है। जैसे कि मेघपटल की निवृत्ति व प्रकाश का विकास दोनों का एक क्षण है।

५२—आस्रव की निवृत्ति का साधकतम भेदविज्ञान है। भेदविज्ञान में यह प्रकाश रहता है, कि आत्मा कर्म के परिणमन को व नोकर्म (शारीरादि) के परिणमन को करता नहीं है। कर्म व नोकर्म के परिणमन को आत्मा क्यों नहीं करता ? इस कारण कि कर्म व नोकर्म जुदा पदार्थ हैं और आत्मा उन दोनों से जुदा पदार्थ है। जैसे घट और कुम्हार ये दो जुदी चीज हैं इस कारण घट के परिणमन को कुम्हार नहीं करता है।

५३—फिर कर्म, नोकर्म के परिणमन को कौन करता है ? कर्म पुद्गल की पर्याय है व नोकर्म भी पुद्गल की पर्याय है। कर्म परिणमन का पुद्गल से व्याप्यव्यापक भाव है। शारीरादि नोकर्म परिणमन का भी पुद्गल से व्याप्यव्यापक भाव है। जिन पुद्गल स्कन्धों का कर्म परिणमन है, वे पुद्गल स्कन्ध कर्म को करते हैं। जिन पुद्गल स्कन्धों का शारीरादि परिणमन है, वे पुद्गल स्कन्ध शारीरादि नोकर्मको करते हैं। जैसे घट परिणमन को कौन करता है ? घट मिट्टी

से बना हुआ है, जिस मिट्टी पिण्ड का घट परिणमन हुआ है, वह मिट्टी पिण्ड घट परिणमन को करता है ।

५४—कर्म के परिणाम क्या हैं ? परिणाम शब्द से दो ध्वनि निकलती हैं—(१) फल, (२) परिणमन। वस्तुतः कर्म का फल भी कर्म का परिणमन है, फिर भी कर्म के उदय को निमित्त पाकर आत्मा में जो मोह, राग, द्वेष, सुख, दुःख आदि विभाव होते हैं, वे भी कर्म के परिणाम कहे जाते हैं। सो इनका कर्म के साथ अन्वय व्यतिरेक है, याने कर्मोदय होने पर ही होते हैं, कर्मोदय बिना नहीं होते, अतः ये कर्म के परिणाम हैं। जैसे कि दर्पण के सामने कोई रंग बिरंगा खिलौना रख दिया जावे तो दर्पण में उस खिलौने के अनुरूप प्रतिबिम्ब बन जाता है। वह प्रतिबिम्ब खिलौने का परिणाम है, क्योंकि उस छाया का खिलौने के साथ अन्वय व्यतिरेक है, याने उस खिलौने के समक्ष होने पर ही होता है। खिलौने के हट जाने पर निवृत्त हो जाता है। इस ही को स्फटिक व डाफ पर से घटा लिया जावे।

५५—कर्म परिणमन का कर्ता कर्म है। यह तो अत्यन्त स्पष्ट ही है। नोकर्म के परिणाम क्या हैं ? शरीर का किसी स्पर्श, रस, गंध, वर्णरूप परिणमना, मोटा पतला आदि रूप परिणमना शरीर का (नोकर्म का) परिणाम है अर्थात जिन पुदगल स्कन्धों का वह परिणमन है, उनका परिणाम है। इनका कर्ता ये पुद्गल स्कन्ध है। जैसे घट परिणमन का अर्थात कम्बुग्रीवादि आकार व उन उन स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण का कर्ता मिट्टी है। जिन का व्याप्यव्यापक सम्बन्ध होता है उनमें कर्म व कर्ता का व्यवहार होता है।

५६—प्रश्न–यदि पुद्गल परिणाम व जीव में कुछ भी सम्बन्ध नहीं, तो फिर इन्हीं में क्यों सन्देह हुआ ? उत्तर–पुद्गल परिणाम में व जीव में ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है, कर्ता कर्म सम्बन्ध नहीं। जीव पुद्गल परिणाम का कर्ता नहीं, किन्तु ज्ञाता है। जैसे कि कुम्हार घट परिणमन का कर्ता नहीं, किन्तु ज्ञाता है।

५७—प्रश्न–जीव पुद्गल परिणमन का ज्ञाता ही सही, इस प्रकार भी तो ज्ञाता जीव व्यापक हो गया व पुद्गल परिणाम व्याप्य होगया ? उत्तर–नहीं, पुद्गल व आत्मा के ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध होने पर भी जीव में पुद्गल परिणाम व्याप्य नहीं है, किन्तु पुद्गल परिणाम को विषय करके जो पुद्गल परिणाम विषयक ज्ञान हो रहा है, उस ज्ञान के साथ उस समय जीव का व्याप्यव्यापक भाव हो रहा है। जैसे–कुम्हार का घट परिणमन के साथ व्यापकव्याप्य सम्बन्ध नहीं है, किन्तु घट परिणाम को विषय करके जो घट विषयक ज्ञान हो रहा है, उस ज्ञान के साथ उस जीव का (कुम्हार का) उस समय व्याप्यव्यापक सम्बन्ध हो रहा है।

५८—व्याप्यव्यापक भाव के बिना कर्ता कर्म की सिद्धि नहीं होती। व्याप्यव्यापक भाव भिन्न भिन्न द्रव्यों में नहीं होता क्योंकि सर्व द्रव्य स्वयं स्वतन्त्र हैं। इस प्रकार के ज्ञान प्रकाश से ज्यों ही अज्ञानान्धकार नष्ट होता है, त्यों ही यह आत्मतत्त्व ज्ञानियों को कर्तृत्वशून्य दृष्टिगोचर होता है; जैसे सूर्य के प्रखर तेज से ज्यों ही अन्धकार नष्ट होता है, त्यों ही दर्शकों को यह सूर्य प्रभाव विशद दृष्टिगोचर होता है।

५९—प्रश्न–ज्ञानी जीव पुद्गल कर्म को जानता है, फिर जीव का पुद्गल के साथ कर्ताकर्मभाव क्यों नहीं है ? उत्तर–जैसे मन्दिर को जाते हुए किसी भक्त को कोई पुरुष जान रहा है (देख रहा है), तो क्या दर्शक पुरुष उस भक्त का या भक्त के गमन का कर्ता हो जायगा ? कभी नहीं, इसी प्रकार पौद्गलिक स्कन्ध खुद अपने में कर्मत्व पर्याय को ग्रहण कर रहा है उसे कोई आत्मा जाने तब क्या वह आत्मा पुद्गलकर्म का कर्ता हो जायगा ? कभी नहीं।

६०—जैसे डाले गये योग्य दही आदि के सम्बन्ध से दूध दूध अवस्था को दही रूप परिणम जाता है, इसे जानने वाला वह जामन डालने वाला पुरुष क्या दही परिणमन का कर्ता हो जाता है ? कभी नहीं, इसी प्रकार योग्य जीव परिणामों का निमित्त पाकर कार्माण-

To report error, please contact vikasnd@gmail.com Version 1

वर्गणा अकर्मत्व अवस्था को त्यागकर कर्मरूप परिणम जाता है, इसे जानने वाला वह जीव क्या पुद्गल कर्म का कर्ता हो जायगा ? कभी नहीं ।

६१—जैसे अपने ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न को करते हुए लुहार के पास लोहा तलवाररूप बन रहा है, तलवाररूप अवस्था में लोहा परिणम रहा है, इसे जानने वाला वह लुहार क्या लोहे का अथवा तलवार का कर्ता हो जायगा याने क्या लुहार तलवार पर्याय में परिणम जायगा ? कभी नहीं; इसी प्रकार अपने ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न को करते हुए जीव के पास याने कार्माणवर्गणा कर्मरूप बन रही है, कर्मत्व अवस्थामें परिणम रही है, इसे जानने वाला वह जीव क्या पुद्गल कर्म का कर्ता हो जावेगा याने क्या जीव पुद्गल कर्मपर्याय में परिणम जावेगा ? कभी नहीं।

६२—प्रत्येक पदार्थ मात्र अपनी ही वर्तमान पर्याय को व्यापकर ग्रहण करता है, व्यापकर उस ही पर्यायरूप परिणमता है, व्यापकर उस ही पर्यायरूप से उत्पन्न होता है। जैसे कि मिट्टी ही व्यापकर मृण्मय घट अवस्था को ग्रहण कर रही है, मिट्टी ही व्यापकर घट अवस्था रूप परिणम रही है, मिट्टी ही व्यापकर उस पर्याय रूप से उत्पन्न है, उसको जानने वाला कुम्हार या अन्य पुरुष हो तो क्या उस पुरुष के साथ घट का कर्ताकर्मभाव बन जायगा ? कभी नहीं; इसी प्रकार पौद्गलिक कार्माणवर्गणायें ही व्यापकर कर्मरूप अवस्था को ग्रहण करती हैं, कर्म पर्यायरूप से परिणमती हैं, कर्म पर्यायरूप से उत्पन्न होती हैं, उसको जानने वाला वह जीव जिसके एक क्षेत्रावगाह में पुद्गल कर्म भी है, क्या उस ज्ञाता जीव के साथ पुद्गलकर्म का कर्ताकर्मभाव हो जायगा ? कभी नहीं।

६३—प्रश्न–आत्मा ज्ञानावरण के क्षयोपशम के अनुकूल अपने परिणाम को जानता है, ऐसे इस आत्मा का पुद्गल कर्म के साथ कर्ताकर्म भाव क्यों नहीं है ? उत्तर–आत्मा का परिणाम आत्मा में ही व्याप्य है। आत्मपरिणाम को आत्मा ही अन्तर्व्यापक होकर ग्रहण करता है, उस ही को परिणमाता है, उस ही रूप से उत्पन्न होता है। अतः आत्मा बाहर रहने वाले पुद्गल द्रव्य के परिणाम का कैसे कर्ता हो जायगा। जैसे कलश को मिट्टी ही अन्तर्व्यापक होकर ग्रहण करती है, कलश को ही परिणमाती है, कलशरूप से ही उत्पन्न होती है, अतः मिट्टी से बाहर रहने वाले कुम्हार आदि कलश के कर्ता कैसे हो जायेंगे। कुम्हार तो मात्र अपने परिणाम को ही अन्तर्व्यापक होकर ग्रहण करता है।

ज्ञानी के परिणाम को निमित्त पाकर ज्ञानावरणका क्षयोपशम हो जाता है और उस क्षयोपशम के अनुकूल आत्मा अपने परिणाम को जानता भी है तो भी पुद्गल द्रव्य के परिणाम को नहीं करने वाले आत्मा का पुद्गल के साथ कर्तृकर्मभाव कैसे बन जावेगा।

६४—आत्मा पुद्गल कर्म के फल, सुख दुःख आदि को भी जानता है, फिर भी इसका पुद्गल के साथ कर्तृकर्मभाव नहीं है जैसे कि कलश निर्माण के काल में कलश विषयक निमित्त पाकर होने वाले श्रम को कुम्हार जानता है तो भी वास्तव में कुम्हार कलश का कर्ता नहीं और न कलश कुम्हार के श्रम का कर्ता है, वैसे ही पुद्गल कर्म के उदय को निमित्त पाकर हुए सुख, दुःख आदि परिणाम को आत्मा जानता है। फिर भी न तो आत्मा पुद्गल कर्म का कर्ता है और न पुद्गल कर्म आत्मपरिणाम का कर्ता है।

६५—पुद्गल कर्म तो अचेतन ही है, वह न तो जीव के परिणाम को करता है और न अपने परिणाम को वह जानता है। उसकी तो मोटे रूप में भी आत्म परिणाम के कर्तापने की कल्पना करना अटपटी बात है। पुद्गल द्रव्य का कर्मपरिणाम पुद्गल द्रव्य में ही व्याप्य है; जीव का परिणाम जीव में ही व्याप्य है। जैसे कि मिट्टी का कलश परिणाम मिट्टी में ही व्याप्य है, कुम्हार का परिणाम

कुम्हार में ही व्याप्य है। कोई किसी को न जाने इससे भी कोई एक दूसरे का कर्ता नहीं हो जाता। कोई किसी को जाने इससे भी कोई एक दूसरे का कर्ता नहीं हो जाता।

६६—आत्मा का पुद्गल के साथ व्याप्यव्यापक सम्बन्ध नहीं है। अतः इनमें से कोई किसी अन्य का कर्ता नहीं, फिर भी जो कर्ता-कर्म जैसी बात बुद्धि में जिनके है वह सब अज्ञान से प्रतिभात होता है। सो जब ही भेदविज्ञान की किरणें पड़ती हैं, तब ही उनमें प्रकट भेद नजर आता है और कर्ता कर्म सम्बन्ध का भ्रम समाप्त हो जाता है। जैसे कि अनेक भाग वाले काठ पर ज्यों ही करोतो पड़ती है कि दो भेद हो जाते हैं।

६७—यद्यपि जीव परिणाम में और पुद्गल कर्म में निमित्त-नैमित्तिक भाव है अर्थात् जीव परिणाम को निमित्तमात्र पाकर पुद्-गल कर्मरूप से परिणमता है और पुद्गल कर्म को निमित्तमात्र पाकर जीव उस अनुरूप परिणमता है, तो भी जीव कर्म के गुण को नहीं करता है और न कर्म जीव के गुण को करता है तथा न तो जीव पुद्-गल कर्म के गुण में कुछ करता है और न कर्म जीव के गुण में कुछ करता है। जैसे कि कुम्हार के व्यापार को निमित्त (आश्रय) पाकर मृत्कलश परिणमन होता है और उस मृत्पिण्ड को निमित्त (आश्रय) पाकर कुम्हार का व्यापार होता है, फिर भी मृत्पिण्ड कुम्हार के गुण को नहीं करता है और न कुम्हार मृत्पिण्ड के गुण को करता है तथा न तो मृत्पिण्ड कुम्हार के गुण में कुछ करता है और न कुम्हार मृत्पिण्ड के गुण में कुछ करता है।

६८—जैसे मिट्टी के द्वारा कलश का करना होता है, वैसे हो जीव के द्वारा उस जीव का भाव ही करने में आता है। इस कारण जीव अपने भाव का कर्ता कहा जा सकता है, अन्य द्रव्य के भाव का कर्ता नहीं।

६९—जैसे कि मिट्टी द्वारा वस्त्र का करना नहीं हो सकता,

अतः मिट्टी वस्त्र का कर्ता किसी भी प्रकार नहीं है वैसे ही जीव के द्वारा पुद्गल का करना किसी भी प्रकार नहीं होता, अतः जीव पुद्गल का कर्ता कभी नहीं होता; क्योंकि अपने भाव से परका भाव किया ही नहीं जा सकता।

७०—वस्तु की प्रकृति के कारण प्रत्येक वस्तु मात्र अपने ही परिणमन का कर्ता होता है और भोक्ता होता है। जैसे कि किसी भी व्यापार में रहने वाला कुम्हार मात्र अपने ही परिणमन का कर्ता होता और भोक्ता होता है।

७१—जैसे कि हवा के चलने के निमित्त से समुद्र तरङ्गित हो जाता है और हवा न चलने के निमित्त से समुद्र निस्तरंग हो जाता है। ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध होने पर भी हवा व समुद्र में व्याप्य-व्यापक भाव नहीं है, याने समुद्र में न हवा व्याप्य है और न हवा में समुद्र व्याप्य है अथवा समुद्र हवा के स्वरूप को ग्रहण नहीं करता और न हवा समुद्र के स्वरूप को ग्रहण करती है। फिर हवा व समुद्र में कर्ताकर्म भाव कैसे हो सकता है। इस प्रकार कर्म के उदय के सद्-भाव को निमित्त पाकर जीव संसारी होता है और कर्म के उदय के असद्भाव को अर्थात कर्म के अभाव को निमित्त पाकर जीवमुक्त होता है, तो भी जीव का कर्म के साथ व्याप्यव्यापक सम्बन्ध नहीं है याने जीव में न कर्म व्याप्य है और न कर्म में जीव व्याप्य है। फिर जीव व कर्म में कर्ताकर्मभाव कैसे हो सकता है।

७२—जैसे समुद्र की तरंगवाली अवस्था में समुद्र ही अन्तर्व्या-पक है, वहां समुद्र ही निश्चय से अपने आपको तरंगवाला कर रहा है। उसी प्रकार जीव की संसार अवस्था में जीव ही अन्तर्व्यापक है, वहां जीव ही निश्चय से अपने आपको संसारी कर रहा है।

७३—तथैव जैसे समुद्र और हवा जुदे जुदे पदार्थ होने से इनमें भाव्यभावक भाव सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ का अनुभवन नहीं कर सकता। अतएव समुद्र की सतरंग

अवस्था का हवा भोक्ता नहीं है अथवा हवा की अवस्था का समुद्र भोक्ता नहीं है। इसी प्रकार जीव और पुद्गल कर्म जुदे जुदे पदार्थ होने से इनमें भाव्यभावक भाव सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ का अनुभवन नहीं कर सकता। अतएव जीव की संसारावस्था का कर्म भोक्ता नहीं है व कर्म की उदयादि अवस्था का जीव भोक्ता नहीं है।

७४—जैसे समुद्र की सतरंग व निस्तरंग अवस्था का अनुभवन समुद्र में ही है, अतः समुद्र ही अपने आप को वहां सतरंग अथवा निस्तरग अवस्थामय अनुभवता हुआ याने बर्तता हुआ अपने को ही भोगता है, अनुभवता है। ऐसा भी भेद दृष्टि में प्रतीत होता है। वैसे हो जीव की ससंसार व निःसंसार अवस्था का अनुभवन जीव में ही है, अतः जीव ही अपने आपको वहां ससंसार अथवा निःसंसार अवस्थामय अनुभवता हुआ, बर्तता हुआ अपने को भोगता है। ऐसा भी भेददृष्टि में प्रतीत होता है। अन्य को तो कोई अनुभवता ही नहीं है।

७५—प्रश्न—यदि एक द्रव्य की दूसरे द्रव्य के साथ कुछ भी बात नहीं है तो समुद्र की चर्चा हवा के साथ क्यों दिखाई अथवा जीव की चर्चा कर्म के साथ क्यों दिखाई ? उत्तर— जैसे मिट्टी ही कलश में व्यापक है, अतः निश्चयतः कलश मिट्टी के द्वारा ही किया गया है और मिट्टीके ही द्वारा अनुभवा गया है, तो भी इनमें निमित्त-नैमित्तिकभाव भी तो है अथवा बाह्य व्याप्यव्यापक भाव भी तो है याने कलश की उत्पत्ति के अनुकूल व्यापार का करने वाला कुम्हार है और कलश के उपयोग से संतोष को अनुभवने वाला कुम्हार है। इस व्यावहारिक बात को देखकर यह प्रसिद्ध हुआ है कि कुम्हार कलश को करता है व भोगता है। इसी प्रकार जीव ही अपने विकल्प आदि परिणाम में व्यापक है, अतः निश्चयतः जीव का परिणाम जीव के द्वारा किया गया है और जीव के द्वारा ही अनुभवा गया है। तो भी इनमें निमित्तनैमित्तिक भाव भी तो है अथवा बाह्य व्याप्यव्यापक

व्याप्य है। आत्मपरिणाम को आत्मा ही अन्तर्व्यापक होकर ग्रहण करता है, उस ही को परिणमाता है, उस ही रूप से उत्पन्न होता है। अतः आत्मा बाहर रहने वाले पुद्गल द्रव्य के परिणाम का कैसे कर्ता हो जायगा। जैसे कलश को मिट्टी ही अन्तर्व्यापक होकर ग्रहण करती है, कलश को ही परिणमाती है, कलशरूप से ही उत्पन्न होती है, अतः मिट्टी से बाहर रहने वाले कुम्हार आदि कलश के कर्ता कैसे हो जायेंगे। कुम्हार तो मात्र अपने परिणाम को ही अन्तर्व्यापक होकर ग्रहण करता है।

ज्ञानी के परिणाम को निमित्त पाकर ज्ञानावरणका क्षयोपशम हो जाता है और उस क्षयोपशम के अनुकूल आत्मा अपने परिणाम को जानता भी है तो भी पुद्गल द्रव्य के परिणाम को नहीं करने वाले आत्मा का पुद्गल के साथ कर्तृकर्मभाव कैसे बन जावेगा।

६४—आत्मा पुद्गल कर्म के फल, सुख दुःख आदि को भी जानता है, फिर भी इसका पुद्गल के साथ कर्तृकर्मभाव नहीं है जैसे कि कलश निर्माण के काल में कलश विषयक निमित्त पाकर होने वाले श्रम को कुम्हार जानता है तो भी वास्तव में कुम्हार कलश का कर्ता नहीं और न कलश कुम्हार के श्रम का कर्ता है, वैसे ही पुद्गल कर्म के उदय को निमित्त पाकर हुए सुख, दुःख आदि परिणाम को आत्मा जानता है। फिर भी न तो आत्मा पुद्गल कर्म का कर्ता है और न पुद्गल कर्म आत्मपरिणाम का कर्ता है।

६५—पुद्गल कर्म तो अचेतन ही है, वह न तो जीव के परिणाम को करता है और न अपने परिणाम को वह जानता है। उसकी तो मोटे रूप में भी आत्म परिणाम के कर्तापने की कल्पना करना अटपटी बात है। पुद्गल द्रव्य का कर्मपरिणाम पुद्गल द्रव्य में ही व्याप्य है; जीव का परिणाम जीव में ही व्याप्य है। जैसे कि मिट्टी का कलश परिणाम मिट्टी में ही व्याप्य है, कुम्हार का परिणाम

To report error, please contact vikasnd@gmail.com Version 1

कुम्हार में ही व्याप्य है। कोई किसी को न जाने इससे भी कोई एक दूसरे का कर्ता नहीं हो जाता। कोई किसी को जाने इससे भी कोई एक दूसरे का कर्ता नहीं हो जाता।

६६—आत्मा का पुद्गल के साथ व्याप्यव्यापक सम्बन्ध नहीं है। अतः इनमें से कोई किसी अन्य का कर्ता नहीं, फिर भी जो कर्ता-कर्म जैसी बात बुद्धि में जिनके है वह सब अज्ञान से प्रतिभात होता है। सो जब ही भेदविज्ञान की किरणें पड़ती हैं, तब ही उनमें प्रकट भेद नजर आता है और कर्ता कर्म सम्बन्ध का भ्रम समाप्त हो जाता है। जैसे कि अनेक भाग वाले काठ पर ज्यों ही करोतो पड़ती है कि दो भेद हो जाते हैं।

६७—यद्यपि जीव परिणाम में और पुद्गल कर्म में निमित्त-नैमित्तिक भाव है अर्थात् जीव परिणाम को निमित्तमात्र पाकर पुद्-गल कर्मरूप से परिणमता है और पुद्गल कर्म को निमित्तमात्र पाकर जीव उस अनुरूप परिणमता है, तो भी जीव कर्म के गुण को नहीं करता है और न कर्म जीव के गुण को करता है तथा न तो जीव पुद्-गल कर्म के गुण में कुछ करता है और न कर्म जीव के गुण में कुछ करता है। जैसे कि कुम्हार के व्यापार को निमित्त (आश्रय) पाकर मृत्कलश परिणमन होता है और उस मृत्पिण्ड को निमित्त (आश्रय) पाकर कुम्हार का व्यापार होता है, फिर भी मृत्पिण्ड कुम्हार के गुण को नहीं करता है और न कुम्हार मृत्पिण्ड के गुण को करता है तथा न तो मृत्पिण्ड कुम्हार के गुण में कुछ करता है और न कुम्हार मृत्पिण्ड के गुण में कुछ करता है।

६८—जैसे मिट्टी के द्वारा कलश का करना होता है, वैसे ही जीव के द्वारा उस जीव का भाव ही करने में आता है। इस कारण जीव अपने भाव का कर्ता कहा जा सकता है, अन्य द्रव्य के भाव का कर्ता नहीं।

६९—जैसे कि मिट्टी द्वारा वस्त्र का करना नहीं हो सकता, अतः मिट्टी वस्त्र का कर्ता किसी भी प्रकार नहीं है वैसे ही जीव के द्वारा पुद्गल का करना किसी भी प्रकार नहीं होता, अतः जीव पुद्गल का कर्ता कभी नहीं होता; क्योंकि अपने भाव से परका भाव किया ही नहीं जा सकता।

७०—वस्तु की प्रकृति के कारण प्रत्येक वस्तु मात्र अपने ही परिणमन का कर्ता होता है और भोक्ता होता है। जैसे कि किसी भी व्यापार में रहने वाला कुम्हार मात्र अपने ही परिणमन का कर्ता होता और भोक्ता होता है।

७१—जैसे कि हवा के चलने के निमित्त से समुद्र तरङ्गित हो जाता है और हवा न चलने के निमित्त से समुद्र निस्तरंग हो जाता है। ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध होने पर भी हवा व समुद्र में व्याप्य-व्यापक भाव नहीं है, याने समुद्र में न हवा व्याप्य है और न हवा में समुद्र व्याप्य है अथवा समुद्र हवा के स्वरूप को ग्रहण नहीं करता और न हवा समुद्र के स्वरूप को ग्रहण करती है। फिर हवा व समुद्र में कर्ताकर्म भाव कैसे हो सकता है। इस प्रकार कर्म के उदय के सद्-भाव को निमित्त पाकर जीव संसारी होता है और कर्म के उदय के असद्भाव को अर्थात कर्म के अभाव को निमित्त पाकर जीवमुक्त होता है, तो भी जीव का कर्म के साथ व्याप्यव्यापक सम्बन्ध नहीं है याने जीव में न कर्म व्याप्य है और न कर्म में जीव व्याप्य है। फिर जीव व कर्म में कर्ताकर्मभाव कैसे हो सकता है।

७२—जैसे समुद्र की तरंगवाली अवस्था में समुद्र ही अन्तर्व्या-पक है, वहां समुद्र ही निश्चय से अपने आपको तरंगवाला कर रहा है। उसी प्रकार जीव की संसार अवस्था में जीव ही अन्तर्व्यापक है, वहां जीव ही निश्चय से अपने आपको संसारी कर रहा है।

७३—तथैव जैसे समुद्र और हवा जुदे जुदे पदार्थ होने से इनमें भाव्यभावक भाव सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ का अनुभवन नहीं कर सकता। अतएव समुद्र की सतरंग

To report error, please contact vikasnd@gmail.com Version 1

अवस्था का हवा भोक्ता नहीं है अथवा हवा की अवस्था का समुद्र भोक्ता नहीं है। इसी प्रकार जीव और पुद्गल कर्म जुदे जुदे पदार्थ होने से इनमें भाव्यभावक भाव सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ का अनुभवन नहीं कर सकता। अतएव जीव की संसारावस्था का कर्म भोक्ता नहीं है व कर्म की उदयादि अवस्था का जीव भोक्ता नहीं है।

७४—जैसे समुद्र की सतरंग व निस्तरंग अवस्था का अनुभवन समुद्र में ही है, अतः समुद्र ही अपने आप को वहां सतरंग अथवा निस्तरग अवस्थामय अनुभवता हुआ याने बर्तता हुआ अपने को ही भोगता है, अनुभवता है। ऐसा भी भेद दृष्टि में प्रतीत होता है। वैसे हो जीव की ससंसार व निःसंसार अवस्था का अनुभवन जीव में ही है, अतः जीव ही अपने आपको वहां ससंसार अथवा निःसंसार अवस्थामय अनुभवता हुआ, बर्तता हुआ अपने को भोगता है। ऐसा भी भेददृष्टि में प्रतीत होता है। अन्य को तो कोई अनुभवता ही नहीं है।

७५—प्रश्न-यदि एक द्रव्य की दूसरे द्रव्य के साथ कुछ भी बात नहीं है तो समुद्र की चर्चा हवा के साथ क्यों दिखाई अथवा जीव की चर्चा कर्म के साथ क्यों दिखाई ? उत्तर– जैसे मिट्टी ही कलश में व्यापक है, अतः निश्चयतः कलश मिट्टी के द्वारा ही किया गया है और मिट्टीके ही द्वारा अनुभवा गया है, तो भी इनमें निमित्त-नैमित्तिकभाव भी तो है अथवा बाह्य व्याप्यव्यापक भाव भी तो है याने कलश की उत्पत्ति के अनुकूल व्यापार का करने वाला कुम्हार है और कलश के उपयोग से संतोष को अनुभवने वाला कुम्हार है। इस व्यावहारिक बात को देखकर यह प्रसिद्ध हुआ है कि कुम्हार कलश को करता है व भोगता है। इसी प्रकार जीव ही अपने विकल्प आदि परिणाम में व्यापक है, अतः निश्चयतः जीव का परिणाम जीव के द्वारा किया गया है और जीव के द्वारा ही अनुभवा गया है। तो भी इनमें निमित्तनैमित्तिक भाव भी तो है अथवा बाह्य व्याप्यव्यापक

भाव भी तो है याने पुद्गल कर्म की उत्पत्ति के अनुकूल परिणाम का करने वाला जीव है और पुद्गल कर्म के विपाक से हुए सुख दुःख परिणाम को भोगने वाला जीव है। इस व्यावहारिक बात को देखकर यह प्रसिद्ध हुआ कि जीव पुद्गल कर्म को करता है व भोगता है।

७६—अथवा जैसे मिट्टी के आश्रय बिना कुम्हार का व्यापार वहां नहीं है और कुम्हार की तृप्ति में भी वह निमित्त आश्रय अथवा विषय पड़ा है, अतः व्यवहार से कहा जाता है कि मिट्टी कलश ने कुम्हार का व्यापार कराया व कुम्हार को तृप्त कराया। वैसे ही कर्म के विपाक बिना जीव में विभाव नहीं हुआ और सुख दुःख का अनुभव भी नहीं हुआ, अतः व्यवहार से कहा जाता है कि कर्म ने जीव का भाव बनाया और सुख दुःख को भगाया। किन्तु वास्तव में (वस्तुत्व में) बात ऐसी नहीं है।

७७ – यदि जीव पुदगल कर्म को करे अथवा भोगे तो यह आपत्ति बन जावेगी कि एक द्रव्य ने दो द्रव्य की क्रिया कर दी। किन्तु ऐसा कभी भी नहीं होता और न ऐसा भगवान ने निर्दिष्ट किया है। जैसे कुम्हार तो अपना ही व्यापार करता है और अपना ही परिणाम भोगता है, क्यों ? कुम्हार का परिणमन कुम्हार के परिणाम से अभिन्न है और कुम्हार का परिणाम कुम्हार से अभिन्न है, अतः कुम्हार मात्र अपने परिणमन को ही कर सकता है व भोग सकता है, कलश के परिणमन को नहीं, क्योंकि वह अन्य द्रव्य है। इसी प्रकार आत्मा की क्रिया आत्मा के परिणाम से अभिन्न है और आत्मा का परिणाम आत्मा से अभिन्न है, अतः आत्मा मात्र अपना ही परिणमन कर सकता है व भोग सकता है। यदि कोई ऐसा देखे कि अन्य द्रव्य ने अपनी भी क्रिया की व और अन्य द्रव्य की क्रिया कर दी, तो वह मिथ्यादृष्टि है अर्थात् परस्पर सम्बन्ध मानने की दृष्टि वाला है। मिथका अर्थ एक दूसरे का सम्बन्ध है।

७८ – प्रत्येक द्रव्य की क्रिया केवल उस एक में ही समवेत

To report error, please contact vikasnd@gmail.com Version 1

है। कोई द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य की क्रिया कर देता है। यदि ऐसा माना जावे तो उसका रहस्य यह बन जायगा कि एक द्रव्य अपनी क्रिया में भी समवेत है और दूसरे की क्रिया में भी समवेत है। इस तरह तो स्व व परका भेद भी खतम हो जायगा। जैसे कुम्हार अपनी क्रिया (परिणमन) करे और मिट्टी की क्रिया (परिणमन) करे तो दो क्रिया में समवेत होने से अब क्या निश्चय है कि यह कुम्हार है कि मिट्टी है। परिणाम यह होगा कि दोनों का अभाव हो जावेगा। इसी तरह आत्मा से देखो–आत्मा अपनी क्रिया तो करता ही है, यदि पुद्गल की भी क्रिया करे तो आत्मा अपनी क्रिया में भी समवेत हुआ और पर की क्रिया में भी समवेत हुआ, अब यह क्या निश्चय हो कि यह आत्मा है या पुद्गल है। परिणाम यह होगा कि दोनों का अभाव हो जायगा।

७९—अनेक पदार्थों को सम्बन्ध रूप में देखने की दृष्टि अभूतार्थ है व अहितकर है। इसलिए एक द्रव्य के द्वारा दो या अनेक द्रव्यों का परिणमन किया जाता है। ऐसा कभी मत प्रतीति में आवे। जैसे जो कि कलश की उत्पत्ति के अनुकूल अपनी क्रिया कर रहा है, वह कुम्हार अपने से अभिन्न क्रिया (परिणति) द्वारा अपने से अभिन्न परिणाम (व्यापार) को करता है, ऐसा ही प्रतीत होता है, किन्तु वह कुम्हार मिट्टी से अभिन्न परिणति के द्वारा मिट्टी से अभिन्न परिणाम को कर रहा है, यह प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार जैसे परिणाम को निमित्तमात्र पाकर पुद्गल कर्म बंधता है, वैसे अपने परिणाम को करता हुआ जीव अपने से अभिन्न परिणति के द्वारा अपने से अभिन्न परिणाम को करता है, यही प्रतीत होओ किन्तु आत्मा पुद्गल से अभिन्न क्रिया के द्वारा पुद्गल से अभिन्न परिणाम को करता है, यह प्रतीत मत होओ।

८०—जैसे कुम्हार के व्यापार रूप कुम्हार ही परिणमता है, अतः उस व्यापार का कुम्हार ही कर्ता है और वही जो परिणाम है

वह कुम्हार का कर्म है और कुम्हार की जो परिणति है वह कुम्हार की क्रिया है। इस कारण कुम्हार विषयक कर्ता, कर्म, क्रिया ये तीनों वास्तव में भिन्न नहीं हैं। वैसे ही आत्मा अपने पर्यायरूप परिणमता है, अतः उस पर्याय का आत्मा ही कर्ता है और वही जो परिणाम वह आत्मा का कर्म है और आत्मा की जो परिणति है वह आत्मा की क्रिया है। आत्म विषयक यह कर्तृत्व, कर्म व क्रिया ये तीनों वास्तव में भिन्न नहीं हैं।

८१—प्रत्येक पदार्थ केवल अकेला ही तो उस रूप परिणमता है, वह परिणाम उस एक का ही होना है, वह परिणति उस एक की ही होती है, सो ये तीनों प्रतीति भेद में तो जुदे हों तो भी एक ही हैं। जैसे कुम्हार के व्यापार रूप कुम्हार ही तो अकेला परिणमता है, वह उस अकेले कुम्हार का ही तो है व वह क्रिया भी उस अकेले कुम्हार की ही तो है। कहने को कर्तृत्वादि अनेक हैं, किन्तु वास्तव में एक ही हैं। वैसे ही आत्मा के पर्याय रूप केवल वह आत्मा ही तो परिणमता है, वह परिणाम भी उस आत्मा का अकेले का ही तो है, वह परिणति भी उस अकेले आत्मा की ही तो है। प्रतीति भेद से यद्यपि कर्तृत्व, कर्म व क्रिया ये अनेक हैं तो भी वास्तव में एक ही तो हैं।

८२—किसी एक पर्यायरूप दो या अनेक द्रव्य नहीं परिणमते, एक परिणाम दो या अनेक द्रव्यों का नहीं होता, एक परिणति दो या अनेक द्रव्यों की नहीं होती। द्रव्य जब अनेक हैं तो वे सब भी अनेक ही हैं। जैसे घट पर्यायरूप कुम्हार व मिट्टी दोनों नहीं परिणमती, घट पर्यायरूप कर्म उन दोनों का नहीं है, घट परिणति रूप क्रिया इन दोनों द्रव्यों की नहीं है। वैसे ही यहाँ भी देखो, ज्ञानावरणादि कर्म पर्यायरूप आत्मा व पुद्गल दोनों नहीं परिणमते, वह पर्यायरूप कर्म दोनों का नहीं है, कर्मपरिणति दोनों की नहीं है। अथवा इस ओर देखो, जीव के विभाव पर्यायरूप जीव व कर्म ये दो पदार्थ नहीं परिणमते हैं, वह परिणाम दो का नहीं है, वह परिणति दो की नहीं है।

To report error, please contact vikasnd@gmail.com
Version 1

८३—एक पर्याय के दो द्रव्य कर्ता नहीं होते, एक द्रव्य के दो कर्म नहीं होते, एक द्रव्य की दो क्रियायें नहीं होतीं, क्योंकि एक अनेक नहीं हो सकता। जैसे घट पर्याय के कुम्हार व मिट्टी दो कर्ता नहीं हैं, कुम्हार के या मिट्टी के दो कर्म नहीं हैं, कुम्हार या मिट्टी की दो क्रियायें नहीं हैं। वैसे ही जीव परिणाम के जीव व पुद्गल कर्म दो कर्ता नहीं हैं, जीव या पुद्गल कर्म के दो कर्म नहीं हैं, जीव या पुद्गल कर्म की दो क्रियायें नहीं हैं। फिर एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ कर्ता कर्म भाव कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। तो फिर आत्मा व पुद्गल कर्म इन दोनों में भी कर्ताकर्म भाव कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता है।

८४—"परद्रव्य का मैं कर्ता हूँ" यह अहंकार जीव पर अनादि से छाया है यही महान् अन्धकार है यह मिटे तो इस ज्ञानघन आत्मा का बन्धन न हो। जैसे कि अन्धकार मिटे तो चोरों के द्वारा उपद्रव का भय नहीं होता।

वास्तविक बात तो यह है कि आत्मा तो आत्मा के भाव को करता है, अन्य परद्रव्य उस ही परके भावों को करता है। आत्मा के भाव आत्मा ही हैं, परके भाव पर ही हैं, इस प्रतीति को दृढ़ करो।

८५—प्रश्न—निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध होने से जीव व कर्म में परस्पर कुछ तो अपनायत होती ही होगी? उत्तर—नहीं, क्योंकि वस्तु-स्वभाव ही ऐसा है कि कोई द्रव्य किसी द्रव्य का गुण, पर्याय, प्रभाव आदि ग्रहण नहीं करता। हाँ निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध अवश्य है। सो यह उपादान की योग्यता पर निर्भर है, कि वह कैसे शक्ति पर्याय वाले पदार्थ को निमित्तमात्र पाकर अनुरूप किस परिणमन से परिणम जाय। जैसे एक दर्पण है, उसमें प्रतिबिम्ब रूप से परिणमने की योग्यता है, वह जब सामने मयूर की सन्निधि पाता है, तो उसके अनुरूप नीला, हरा, काला, पीला आदि रूप से परिणम जाता है। जो यह परिणमन है, उसे मयूरप्रतिबिम्ब बोलते हैं। मयूरप्रतिबिम्ब

भाव भी तो है याने पुद्गल कर्म की उत्पत्ति के अनुकूल परिणाम का करने वाला जीव है और पुद्गल कर्म के विपाक से हुए सुख दुःख परिणाम को भोगने वाला जीव है। इस व्याबहारिक बात को देखकर यह प्रसिद्ध हुआ कि जीव पुद्गल कर्म को करता है व भोगता है।

७६—अथवा जैसे मिट्टी के आश्रय बिना कुम्हार का व्यापार वहां नहीं है और कुम्हार की तृप्ति में भी वह निमित्त आश्रय अथवा विषय पड़ा है, अतः व्यवहार से कहा जाता है कि मिट्टी कलश ने कुम्हार का व्यापार कराया व कुम्हार को तृप्त कराया। वैसे ही कर्म के विपाक बिना जीव में विभाव नहीं हुआ और सुख दुःख का अनुभव भी नहीं हुआ, अतः व्यवहार से कहा जाता है कि कर्म ने जीव का भाव बनाया और सुख दुःख को भगाया। किन्तु वास्तव में (वस्तुत्व में) बात ऐसी नहीं है।

७७—यदि जीव पुदगल कर्म को करे अथवा भोगे तो यह आपत्ति बन जावेगी कि एक द्रव्य ने दो द्रव्य की क्रिया कर दी। किन्तु ऐसा कभी भी नहीं होता और न ऐसा भगवान ने निर्दिष्ट किया है। जैसे कुम्हार तो अपना ही व्यापार करता है और अपना ही परिणाम भोगता है, क्यों? कुम्हार का परिणमन कुम्हार के परिणाम से अभिन्न है और कुम्हार का परिणाम कुम्हार से अभिन्न है, अतः कुम्हार मात्र अपने परिणमन को ही कर सकता है व भोग सकता है, कलश के परिणमन को नहीं, क्योंकि वह अन्य द्रव्य है। इसी प्रकार आत्मा की क्रिया आत्मा के परिणाम से अभिन्न है और आत्मा का परिणाम आत्मा से अभिन्न है, अतः आत्मा मात्र अपना ही परिणमन कर सकता है व भोग सकता है। यदि कोई ऐसा देखे कि अन्य द्रव्य ने अपनी भी क्रिया की व और अन्य द्रव्य की क्रिया कर दी, तो वह मिथ्यादृष्टि है अर्थात् परस्पर सम्बन्ध मानने की दृष्टि वाला है। मिथका अर्थ एक दूसरे का सम्बन्ध है।

७८—प्रत्येक द्रव्य की क्रिया केवल उस एक में ही समवेत

To report error, please contact vikasnd@gmail.com
Version 1

दर्पणकी स्वच्छताका विकार मात्र है। वह तो दर्पण है, दर्पणकी ही अध्रुव, औपाधिक परिणति है और मयूर मयूर ही है, उसका परिणमन मात्र मयूरमें ही है। मयूरका न तो दर्पण या दर्पण परिणमन है और दर्पणका न मयूर या मयूर परिणमन है। इसी प्रकार जीव है, उसमे रागद्वेषादि विभावरूपसे परिणमनेकी शक्ति है, सो इस योग्य पर्याय शक्ति वाला जीव रागप्रकृतिक द्वेषप्रकृतिक कर्मके उदयको निमित्तमात्र पाता है, तब राग द्वेषादि विभावरूप से परिणम जाता है। जो यह विभाव परिणमन है, वह चैतन्यका विकारमात्र है, वह तो जीव है, जीवकी ही अध्रुव, औपाधिक परिणति है और कर्म अजीव (पुद्गल) ही है, उसका परिणमन मात्र उस कार्माणवर्गणामें ही है। जीवका न तो कार्माणवर्गणा या कर्म परिणमन है और कर्मका न जीव या जीव परिणमन है।

८६—जैसे दर्पण प्रतिबिम्बके प्रसङ्गमें मयूरको तो मयूर कहते ही हैं, मयूर प्रतिबिम्बको भी मयूर कहते हैं, सो वह तो मयूर मयूर है, यह दर्पणमयूर है, इसी तरह मिथ्यात्व क्रोध, मान, माया, लोभ आदि रूप मोह रागद्वेषादि परिणमनके प्रसङ्गमें जीव परिणमनके नाम भी मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि हैं और जिन कर्म प्रकृतियोंको निमित्त पाकर वह राग द्वेष आदि हुआ, उन कर्मप्रकृतियोंके नाम भी क्रोध, मान, माया, लोभ आदि हैं। सो कर्म क्रोध है, वह तो अजीव क्रोध आदि है और जो जीव परिणमनमें क्रोध आदि है वह जीव क्रोध आदि है। ये दोनों पृथक् पृथक् हैं, इनमें कर्तृकर्मभाव नहीं है।

८७—जैसे जो दर्पणमयूर है वह चलने फिरने खाने वाले तिर्यञ्च मयूरसे जुदा ही है और यह तिर्यञ्च मयूर दर्पणमयूरसे जुदा ही है, इसी प्रकार मिथ्यात्व, राग, द्वेष आदि जो विभाव है वह मूर्त पुद्गल कर्म परिणामसे जुदा ही है और जो मोह, क्रोध आदि नामक पुद्गल कर्म हैं, वह अमूर्त चैतन्य परिणामसे जुदा ही है। इनमेंसे कोई किसी अन्य के स्वरूपमें प्रविष्ट नहीं है। फिर कर्तकर्मभाव इनमें परस्पर कैसे हो सकता है। वास्तवमें कर्तृकर्मभाव एक ही पदार्थमें प्रतीतिवश सिद्ध

To report error, please contact vikasnd@gmail.com Version 1

होता है।

८८—जैसे दर्पण निमित्त सन्निधि मिटने पर अपने स्वच्छता रूप है और निमित्त मिलने पर फिर दर्पण प्रतिबिम्ब रूपसे परिणम जाता है, ऐसा जीवमें मूलसे नहीं है। याने जीव एक बार बिल्कुल स्वच्छ परिणमनसे परिणम कर पुनः विभावरूप नहीं परिणमता। हाँ जब तक विभाव पर्याय योग्यता है, तब तक यह होता है कि क्रोध प्रकृति निमित्त न होनेपर क्रोधरूप न परिणमा किसी अन्यरूप परिणमा और क्रोध प्रकृति निमित्त मिलने पर फिर क्रोध प्रतिबिम्बरूप परिणम गया।

८९—प्रश्न-चैतन्य परिणाममें मिथ्यादर्शनादि विकार कैसे हो गया? उत्तर-प्रत्येक वस्तुमें यह स्वभाव पड़ा है कि उसमें जितनी शक्तियाँ हैं, उन सब शक्तियोंरूप परिणम सके। जीवमें भी यही बात है। जीवकी अनन्त शक्तियोंमें एक शक्ति वैभाविकी भी है और अनादिकालसे जीवके साथ अन्य पदार्थ कर्म भी साथ है, अतः मिथ्यात्व, क्रोध आदि नामक कर्मप्रकृतियोंके उदय कालमें यह मलिन जीव भी मिथ्यात्व, क्रोध आदि विकार रूप परिणम जाता है। जैसे स्फटिकमें अन्य योग्य पदार्थको निमित्त पाकर उस अनुरूप रूपसे परिणमनेकी शक्ति है, सो पीला, हरा आदि रूप सुवर्ण, पत्ता आदिके आश्रय सहित होनेपर स्फटिकमें भी हरा, पीला आदि विकार हो जाता है।

९०—ऐसा होनेपर भी कहीं अन्य पदार्थ अन्य पदार्थके परिणाम का कर्ता नहीं हो जाता। जैसे पत्ताकी डाक होने पर भी स्फटिक में जो हरी छायामें रूप है उसका कर्ता डाक नहीं, क्योंकि वह परिणमन स्फटिककी अर्थक्रियासे है, पत्ताकी अर्थक्रियासे नहीं। इसी प्रकार कर्मोदय होनेपर जीवमें जो मिथ्यात्व, क्रोध आदि विभाव है, उसका कर्ता कर्म नहीं है, क्योंकि वह परिणमन जीवकी अर्थक्रिया है, कर्मकी अर्थक्रिया से नहीं।

९१—जिज्ञासा-मालूम तो ऐसा होता है कि जीवमें क्रोध आदि विकार नहीं हैं, कर्मके हैं अथवा किसीके नहीं हैं, केवल भ्रमवश ऐसा मालूम पड़ता है कि जीवके हैं. जैसे कि स्वच्छ सफेद स्फटिक हरा नहीं हो जाता है, किन्तु डाकके सम्बन्धसे ऐसा लगता है कि स्फटिक हरा

हो गया है। समाधान-स्फटिक डाकके अनुरूप छाया रूपमें परिणम जाता है। उस समय, जैसे कि दर्पण छाया रूपमें परिणम जाता है, इसी प्रकार जीव भी क्रोध आदि रूपमें परिणम जाता है। उस समय, भ्रम तो इसलिये जचता कि वह औपाधिक है, आत्माका सहज स्वभाव नहीं।

९२—प्रश्न-स्फटिकमें तो स्वच्छता ही है, उसमें से देखते तब रंगवाला डाक दीखता है; स्फटिकमें उस रंगरूप परिणमन तो नहीं है? उत्तर-स्फटिकमें दर्पणकी तरह मसाला लिया हुआ नहीं है। इसलिये बिना मसाला लिये हुए कांचमें जैसा बिम्ब रूप परिणमन होता है, प्रायः उसी भाँति स्फटिकमें बिम्बरूप परिणमन होता है। जैसे कांच पारदर्शी है, वैसे स्फटिक भी पारदर्शी है, अतः जो विशेष गहरा रँगवाला कुछ दीखता है, वह डाक है। इसी प्रकार क्रोध प्रकृति के उदयको निमित्तमात्र पाकर जीव क्रोधरूप परिणमन करता है। भेदविवक्षासे देखो तो चारित्र गुणके विकार रूप परिणमन होता है। जैसे कि स्फटिकमें भेद विवक्षासे देखो तो रूप गुणके परिणमनसे वह परिणमन है छाया बिम्बरूप। चैतन्य भाव उभयतः पारदर्शी है, याने निमित्तभूत जिस प्रकृतिके साथ क्रोधादि विकारका अन्वयव्यतिरेक है, उस ओर देखे अपनेमें से पार होकर तो जचता है कि कर्मका विकार है और विभावमें रहकर भी विभावके पार चैतन्य स्वभावको देखे तो जचता है यहाँ विकार ही नहीं। फिर विकारकी चर्चा करे तो वहाँ वह भ्रम प्रतीत होता है अथवा कर्मका विकार प्रतीत होता है।

९३—निश्चयतः जीव जिस जिस विकारसे परिणम कर जिस जिस भावको करता है. वह उस उस परिणामका कर्ता है। यद्यपि यह जीव स्वभावतः शुद्ध और निर्लेप है अतएव एक ही प्रकारका है, फिर भी वस्त्वन्तर भूत कर्मसे युक्त होनेके कारण अशुद्ध, सलेप है अतएव च नाना प्रकार परिणम कर नानारूप हो जाता है। जैसे स्फटिक जिस जिस रंगसे परिणम कर जिस जिस स्वरूपको करता है, वह स्फटिक निश्चयतः उस उस परिणमनका कर्ता है। यद्यपि स्फटिक

To report error, please contact vikasnd@gmail.com Version 1

स्वभावतः स्वच्छ है, शुद्ध है, निर्लेप है अतएव एक ही प्रकारका है, फिर भी वस्त्वन्तरभूत डाकसे युक्त होनेके कारण अस्वच्छ, अशुद्ध, सलेप है अतएव च नाना प्रकार परिणम कर नानारूप हो जाता है।

६४—इस प्रकार यह आत्मा नाना विभावरूप अपने परिणाम विकारको करता है, तभी कार्माणवर्गणारूप पुद्गल द्रव्य स्वयं मोहनीय आदि कर्मरूपसे स्वतः ही परिणम जाता है। जैसे कि कोई मन्त्रप्रयोगी पुरुष सर्पविष दूर करता है, उस जगह होता क्या है कि विषापहार मन्त्रप्रयोगी पुरुष तो उस प्रकारके ध्यान भावसे परिणमता है, सो वास्तवमें वह तो ध्यानका ही कर्ता है। उस समय ध्यान भावको निमित्तमात्र पाकर मन्त्रवादीकी परिणति ग्रहण किये बिना ही सर्पविष स्वयं दूर हो जाता है।

६५—तथा जैसे विडम्बक मन्त्रप्रयोगी पुरुष तो उस प्रकारके ध्यान भावसे परिणमता है, सो वह तो वास्तवमें ध्यान भावका ही कर्ता है। उस समय ध्यान भावको निमित्तमात्र पाकर मन्त्रवादीकी परिणति ग्रहण किये बिना ही स्वयं स्त्रियाँ विडम्बनाको प्राप्त हो जाती हैं। इसी प्रकार कषायित जीव तो कषाय भावसे परिणमता है, सो वह तो वास्तव में कषाय परिणामका ही कर्ता है। उस समय कषायभावको निमित्तमात्र पाकर जीवकी परिणति ग्रहण किये बिना ही कार्माणवर्गणामय पुद्गल द्रव्य मोहनीयादि कर्मरूपसे स्वयं परिणम जाते हैं।

६६—तथा जैसे साधक तो उस प्रकारका ध्यानभाव ही करता है, उसके ध्यान भावको निमित्त पाकर बन्धन साधककी परिणति लिये बिना ही स्वयं ही ध्वस्त हो जाते हैं, इसी प्रकार जीव तो अज्ञानसे मिथ्यादर्शनादि भावरूपसे परिणमता हुआ, मिथ्यादर्शनादिभावका ही कर्ता है, उसके मिथ्यादर्शनादिभावको निमित्तमात्र पाकर पुद्गल द्रव्य कर्मरूपसे स्वयं ही परिणम जाता है अथवा साधक तो मात्र अपने शुद्ध स्वभाव भावको करता है उसको निमित्तमात्र पाकर मोहनीयादि

कर्म बन्धन स्वयं ही ध्वस्त हो जाते हैं। वस्तुतः कोई भी द्रव्य किसी भी अन्य द्रव्यके सुधार अथवा विनाशका कर्ता नहीं है।

६७—कर्मबन्धन होनेका मूल निमित्त कारण अज्ञान ही है। जैसे कोई प्राणी ठंडे पानी के स्पर्शसे अज्ञानसे अपनेको ठंडा अनुभव करता है। यद्यपि वह ठंडापन पुद्गल में ही है, जीव से वह अत्यन्त भिन्न है, जीव शीतरूप कभी हो ही नहीं सकता, तो भी अज्ञानसे परमें व निजमें भेदविज्ञान न करनेसे मैं ठंडा हो गया हूँ, ऐसा अनुभव करने लगता है। इसी प्रकार अज्ञानी जीव राग द्वेष आदि प्रकृतिरूप पुद्गल के परिणमनको अज्ञानसे आत्मरूप अनुभव करता है। यद्यपि वह प्रकृतिपना पुद्गलमें ही है, जीवसे वह अत्यन्त भिन्न है, जीव प्रकृतिरूप कभी हो ही नहीं सकता, तो भी अज्ञानसे परमें व निजमें भेद विज्ञान न करनेसे मैं इस रागद्वेषादि प्रकृतिरूप हो गया हूं, ऐसा अनुभव करने लगता है अथवा रागद्वेषादि विभाव जो कि पुद्गलके परिणामस्वरूप (फलस्वरूप) अवस्था है, उसको अज्ञानसे यह अज्ञानी जीव आत्मरूप अनुभव करता है। यद्यपि ये रागद्वेषादि विभाव औपाधिक है, पुद्गल कर्मारोपित विकार है, जीवके शुद्ध (निरपेक्ष) स्वरूपसे अत्यन्त भिन्न हैं, जीव का निरपेक्ष स्वभाव परारोपित विकाररूप कभी नहीं हो सकता है, तो भी अज्ञानसे परभावमें व निज स्वभावमें भेदविज्ञान न होनेसे अज्ञानी जीव अपने स्वभावको रागद्वेषादि विकाररूप ही अनुभव करता है। तब ऐसे अज्ञान भावका निमित्त पाकर कर्मबन्धन हो जाता है। इस प्रकार कर्मबन्धनका मूल निमित्त कारण अज्ञान ही है। अज्ञानसे जीव कर्मका कर्ता प्रतिभात होता है।

६८—ज्ञानसे जीव कर्मका अकर्ता होता है, ज्ञान होनेपर कर्मका बन्ध रुक जाता है। जैसे कि कोई प्राणी ठंडे पानीके संयोगमें भी अपना विवेकबल सही रखे और जाने कि यहां शीत स्पर्श तो पानी में ही है, वह तो पुद्गल परिणामकी अवस्था है, सो वह उस पुद्गल स्कन्ध (पानी) से अभिन्न है, आत्मासे तो अत्यन्त भिन्न है। हां उस स्कन्ध

To report error, please contact vikasnd@gmail.com Version 1

संयोगको निमित्तमात्र करके आत्मा ठंडेपन का अनुभव करे सो यहाँ यह ज्ञान तो उस कालमें आत्मासे अभिन्न है, सो यह अनुभव पुद्गलसे अत्यन्त भिन्न है। ऐसा विवेकबल होनेसे वह प्राणी अपनेको शीतरूप अनुभव नहीं करता है। इसी प्रकार ज्ञानी आत्मा देह व पुद्गल कर्मके संयोग कालमें भी अपना विवेकबल सही रखता और जानता है कि यह तो पुद्गलकी अवस्था है, सो पुद्गलमें ही है, आत्मासे तो अत्यन्त भिन्न है। हां उस स्कन्धकी विशिष्ट अवस्थाको निमित्तमात्र पाकर आत्मामें जो विभावका अनुभव हुआ है, वह उस कालसे आत्मासे अभिन्न है और पुद्गल से तो अत्यन्त भिन्न ही है। ऐसा विवेकबल होनेसे आत्मा किञ्चित् भी अज्ञान रूपसे नहीं परिणमता है, ज्ञानमय निज आत्माके ज्ञानपनेको ही प्रकट करता है। इस प्रकार वह ज्ञानी जीव समस्त परपदार्थोंका अकर्ता तो है ही; साथ ही रागादि विभावको भी परभाव जानता है, अपनेको ज्ञानरूप अनुभव करता है, अतः रागादि कर्मका भी अकर्ता हो जाता है।

९९—अज्ञानसे कर्म किस प्रकार आते हैं? इसका स्पष्टोकरण यह है कि जैसे लाल मसालेका जिसमें संयोग है, ऐसा मलिन कांच (दर्पण) सम्मुख हुए डाकके अनुरूप अपना परिणमन कर लेता है, उस परिणमनको विशेष व्यक्त करता है, उसको अपना लेता है याने ऐसा अपना लेता है कि अन्य पदार्थ जो उस डाकके पीछे हो, उनके छाया-रूप भी अपनेको नहीं बना पाता है और न अपना स्वच्छ भाव भी उस समय प्रकट कर पाता है। इसी प्रकार यह जीव जो कि अज्ञान-रूप है, परपदार्थ व निज आत्माको एक रूपसे श्रद्धामें लेता है, याने इन्हें जुदे जुदे सत्तावानके रूपमें विश्वास नहीं कर पाता है, परपदार्थ व निज आत्माको अविशेष रूपसे जानता है व इनमें अविशेष रूपसे वृत्ति करता है इसी कारण अपनेको "मैं राग हूँ, मैं क्रोध हूँ" इत्यादि रूपसे अनुभव करता है। तब इस परिणामसे परिणमता हुआ जीव इस विकारका कर्ता हुआ। इस विभावको निमित्तमात्र पाकर पुद्गल कर्म स्वयं बन्ध अवस्थाको प्राप्त होते हैं।

इसी प्रकार जो ज्ञेयविकल्प होते हैं, उनमें व निज ध्रुव स्वरूप में अन्तर न समझनेसे उन ज्ञेयविकल्पोंका भी कर्ता हो जाता है।

१००—जैसे कि मुझमें भूत प्रविष्ट हो गया है. इस ध्यानसे जो बिड़ा हुआ है, वह पुरुष अज्ञानसे भूत और आत्माको (अपनेको) एकमेक मान्यतामें कर देता है। अतः जो मनुष्यको अनुचित है, ऐसे अमानुष-व्यवहारका कर्ता हो जाता है। इसी प्रकार मैं क्रोध हूँ, इस प्रकार परभाव को जो अपना लेता है व मैं परज्ञेयरूप हूँ, इस प्रकार परपदार्थको अपना लेता है, वह अज्ञानसे विकार रूप परिणामसे परिणमकर विकारभावका कर्ता होता है।

१०१—जैसे किसी अज्ञानी गुरुके आदेशसे किसी शिष्यने ऐसा ध्यान जमा लिया कि मैं महिषा (भैंसा) हूं और ऐसा भैंसा हूँ, जिसके सींग एक एक गजके हैं। बस इस वासनासे भैंसा व आत्माको (अपनेको) एकमेक मान्यतामें करता हुआ वह "अब इस दरवाजेसे कैसे निकलू" इत्यादि संक्लिष्ट भावोंका कर्ता हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञेय पदार्थ व निज आत्मतत्त्वको एकमेक करता हुआ अज्ञानी जीव भी इन्द्रि-यजविषयसम्बन्धिविकल्पोंसे तिरस्कृत होकर ज्ञयविकल्प ही मैं हूँ, ऐसे भावका कर्ता हो जाता है। यह सब कर्तृत्वबुद्धि अज्ञानीकी महिमा है।

१०२—यदि इस ही प्रकारका तथ्य ज्ञात हो जाय तो वह जीव अकर्ता हो जाता है। कर्ता तो जीव अज्ञान भावमें ही होता है। जैसे कि हाथी तृण और मिठाई दोनों भोजन रक्खे हों, तो भी मिलित स्वादके स्वादनकी प्रकृतिसे उनमें भेद विज्ञान न कर दोनोंको एक साथ खा लेता है। इसी प्रकार अज्ञानी जीव भी स्वभाव व परभावमें भेदविज्ञान न करके दोनोंको एकमेक करता हुआ मिलित स्वादका स्वादन करता है, अतश्च भेदविज्ञानकी शक्ति मुद जानेके कारण विभावमात्र अपनेको अनुभव करता है।

१०३—यह जीव अज्ञानवश ज्ञान व ज्ञेयमें भेद नहीं कर पाता अतः ज्ञेयज्ञायक सम्बन्धवश होने वाले प्रवाहमें बह कर ज्ञेयकी ओर आकर्षित होता है। जैसे कि कोई शिखरिन (दही मीठा मिला हुआ

To report error, please contact vikasnd@gmail.com Version 1

पेय) को पीकर उस स्वाद की गृद्धतासे स्वादभेद न करके गायोंको दुहने लगता अथवा दूध पीने लगता है।

१०४—जैसे कि कोई प्यासा हरिण रेतीली नदीमें दूरकी रेतको पानी समझकर दौड़ लगाता है, उसके समीप पहुंचने पर प्यास बुझने का तो काम कोई है नहीं, सो आगे फिर देखता है, सो दूरकी रेतको पानी समझकर फिर दौड़ लगाता है, इस पद्धतिमें वह दुःखी ही रहता है। यह क्लेश तभी तक रहता है, जब तक कि वह रेतको रेत नहीं समझ पाता है। इसी प्रकार अज्ञानी प्राणी इन्द्रियविषयभूत ज्ञेय पदार्थोंको अथवा विकल्पोंको हितकारी समझकर उनकी ओर आकर्षित होता है। उसके समीप पहुँचने पर आकुलता दूर होनेका तो काम कोई है ही नहीं, सो भावी विषयोंकी आशा करके फिर उनकी ओर आकर्षित होता है। इस पद्धति में यह अज्ञानी जीव दुःखी ही रहता है। यह क्लेश तब तक रहता है जब तक यथार्थ वस्तुज्ञान नहीं कर पाता।

१०५—जैसे कोई मनुष्य अज्ञानसे रस्सीमें सांपका भ्रम कर लेवे तो वह इस भ्रमके कारण उस साधारण अन्धेरीमें ही दौड़भाग व भय करता है। इसी प्रकार अज्ञानी जन भी ज्ञेयपदार्थोंको आत्मा मान अथवा विकल्पोंको आत्मा मानकर नाना संकल्पविकल्प बढ़ाता रहता है।

१०६—यद्यपि यह आत्मा शुद्ध ज्ञानमय है, तो भी जैसे वायुसे प्रेरित होकर समुद्र उछलती हुई तरंगों वाला हो जाता है, इसी प्रकार कर्मविपाकवश हुए अज्ञानसे प्रेरित होकर यह अज्ञानी जीव नाना विकल्पों वाला होता है, आकुलित होता है। इस प्रकार यह अज्ञानी जीव उन कर्मोंका कर्ता होता है।

१०७—यह कर्तृत्व तब तक ही रहता है जब तक निज व परमें भेदज्ञान नहीं कर पाता है। और, जब जैसे कि हंस पानी व दूधके विवेक को कर देता है, इसी भांति यह आत्मा निज व परपदार्थके

विशेषको जान लेता है; उसी समय वह परकी उन्मुखतासे हटकर स्वरसतः निज चैतन्यमात्र वस्तुका अवलम्बन कर लेता है और वह तन मात्र जानता ही है, करता कुछ नहीं है। अथवा वह ज्ञानक्रियाका ही कर्ता होता है।

१०८—जैसे कि आग गर्म है, पानी ठंडा है, ऐसी व्यवस्था करने वाला कौन है ? ज्ञान। इसी प्रकार देह व कर्म अचेतन हैं, आत्मा चेतन है, ऐसी व्यवस्था करने वाला कौन ? ज्ञान। अथवा जैसे अग्नि सम्बन्ध को निमित्त पाकर गर्म हुए जलमें यह समझकर लेना कि यह गर्मी तो है औपाधिक, संयोगज और यह शीतस्वभाव पानीका स्वरस है, ऐसी व्यवस्था करने वाला कौन ? ज्ञान। इसी प्रकार औपाधिक भाव क्रोधादिक व स्वभावानुरूप विकास ज्ञान इन दोनोंमें भेद है, इस प्रकार की व्यवस्था करने वाला कौन है ? ज्ञान। इस ज्ञानभावका करने वाला क्रोधादिका कर्ता नहीं होता। यह इस ज्ञानीके बड़े ही चमत्कारकी बात है कि वह होते हुए क्रोधादिको भी जानता और निज ज्ञान विकासको जानता है और दोनोंको भिन्न भिन्न रूप से।

१०९—तथा जैसे नमक मिले हुए पकोड़ी आदि व्यञ्जनोंमें साधारणतया ऐसा स्वाद आता है कि मानों व्यञ्जन ही खारा है, किन्तु उसमें यह समझ बन जाय कि केवल व्यञ्जन तो जैसा है तैसा ही है और यह खारा नमक है, ऐसी व्यवस्था करने वाला कौन ? ज्ञान। इसी प्रकार इस आत्मामें कभी क्रोधादिक व ज्ञानविकास दोनों का उदय होता तो वहां ज्ञानीजन तो भिन्न भिन्न स्वाद जानते हैं कि यह तो क्रोधादिक है और यह ज्ञानभाव है। इसकी व्यवस्था करने वाला कौन ? ज्ञान। अज्ञानसे ही यह जीव परको व परभावको अपनाता था। वहां भी परका तो कर्ता था ही नहीं, उस विकल्पका ही कर्ता था। ज्ञानके उदित होनेपर अब उस विकल्प का भी कर्ता नहीं रहता। वास्तवमें आत्मा स्वयं ज्ञानमय है, वह ज्ञानके अतिरिक्त क्या कर सकता। पर द्रव्यका या परभावका कर्ता आत्मा है, यह सोचना

या कहना तो व्यवहारीजनोंका व्यामोहमात्र है।

११०—जैसे कि कोई पुरुष अपने विचार व व्यापारसे घटादि पर द्रव्यको कर देता है, यह प्रतिभास व्यामोह है। इसी प्रकार कोई आत्मा अपनी परिणतिसे कर्मको व देहको कर देता है, ऐसा प्रतिभास और अपने स्वभावसे ही क्रोधादिको कर देता है, ऐसा प्रतिभास केवल व्यामोह ही है।

१११—किन्तु उक्त वार्ता सत्य नहीं है, क्योंकि यदि आत्मा अपनी परिणतिसे कर्म नोकर्मको कर देता तो वह कर्म व नोकर्म चैतन्यमय हो जाता। जैसे कि पुरुष अपने विचार व व्यापारसे मिट्टी को घटरूप बना देता तो वह घट पुरुष व्यापारमय हो जाता।

११२—कर्म व नोकर्मका कर्ता तो आत्मा निमित्तरूपसे भी नहीं है। जैसे कि पुरुष घटका निमित्त रूपसे भी कर्ता नहीं है; पुरुषके उपयोग व व्यापारको तो घट निष्पत्तिमें निमित्त कह सकते हैं, किन्तु पुरुषको निमित्त नहीं कह सकते। इसी प्रकार कर्म, नोकर्मका आत्मा निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं है। आत्मा के योग, उपयोगको कर्म-बन्धादिमें निमित्त कह सकते हैं, किन्तु आत्मद्रव्यको निमित्त नहीं कह सकते। ये योग और उपयोग अनित्य हैं।

११३—ज्ञानी अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव करता है। अतः ज्ञानी ज्ञानका ही कर्ता होता है। जैसे कि कोई डेरी फार्मका मालिक जहां दूध निकल रहा हो, दही जम रहा हो आदि कुछ व्यापार हो वहां वह अध्यक्ष उनमें कुछ करता नहीं है, क्योंकि दूध दही आदि पर्याय तो उस गोरसमें ही व्याप्त हैं। अध्यक्ष तो मात्र अपने आपमें अपना परि-णमन करता हुआ देख रहा है। इसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म होते हैं तो वे उन पौद्गलिक कार्माणवर्गणा स्कन्धोंमें ही व्याप कर होते हैं, ज्ञानी तो अपने आपमें अपना परिणमन करता हुआ मात्र जानता ही है।

११४—तथा वह डेरी फार्मका अध्यक्ष किसी विरुद्ध हो रहे काम को भी जान लेता है, वह करता नहीं है। इसी तरह ज्ञानी भी

राग, द्वेष आदि विरुद्ध कार्योंको भी जानता ही है, करता नहीं है, क्योंकि उसे विकास व विकारका प्रखर भेदविज्ञान हो गया है।

११५—जैसे कि कुम्हार मिट्टीमय घटमें अपना कोई द्रव्य या गुण नहीं रख पाता। उस घटमें तो मिट्टीका द्रव्य व मिट्टीका गुण ही स्वयं वर्तता है। अतः वह कुम्हार घटका कर्ता वास्तवमें है ही नहीं। इसी प्रकार आत्मा पुद्गलमय कर्ममें अपना कोई गुण या द्रव्य रख ही नहीं पाता। कर्ममें तो पुदगलका ही द्रव्य व पुद्गलका गुण ही स्वयं बर्तता है। अतः आत्मा ज्ञानावरणादिक कर्मका कर्ता वास्तवमें है ही नहीं। इसका कारण यह है कि जो पदार्थ अनादिसे जिस जिस द्रव्य व गुणमें वर्त रहा है, वह उसी में ही बर्तता है, अन्य द्रव्य या अन्य गुण रूपमें से क्रान्त (परिवर्तित) कभी नहीं हो सकता। वस्तुतः न तो अज्ञानी परभावका कर्ता है और न ज्ञानी परभावका कर्ता है। अज्ञानी कर्तापनेके विकल्पको करता है, ज्ञानी कर्तापनेके विकल्पको नहीं करता।

११६—फिर भी आत्मविभाव व पुद्गल कर्ममें निमित्तनैमि-त्तिक भाव है। इस आधारपर यदि यह कह दिया जावे कि आत्मा पुद्गल कर्मका कर्ता है, तो यह मात्र उपचार है। जैसे कि युद्धमें युद्ध तो योद्धा (सिपाही) लोग करते हैं, वे ही युद्ध परिणमनसे परिणम रहे हैं, किन्तु राजाके प्रसङ्गसे यह कह दिया जाता है कि राजा युद्ध कर रहा है, राजा तो युद्ध परिणमनसे परिणम ही नहीं रहा। तो यह कहना जैसे उपचार है। इसी प्रकार कर्मरूपसे तो पौद्गलिक कार्माणवर्ग-णायें परिणम रही हैं, किन्तु आत्मविभावके प्रसङ्गसे यह कह दिया जाता है कि आत्मा कर्म कर रहा है, आत्मा तो कर्मपरिणमन से परिणम ही नहीं रहा। तो आत्मा ने कर्म किया, आत्मा कर्म करता है आदि कहना सब उपचार है।

११७—जैसे कि राजा उस लड़ाई के मुकाबिलेको न ग्रहण करता है, न युद्धव्यापार-रूपसे परिणमता है, न युद्धको उत्पन्न करता

है, न नया ही आदमी हथियार वगैरह कुछ बना देता है और न योद्धावों को हथियारों को बांध देता है फिर भी "राजा मुकाबिला ग्रहण करता है, युद्धव्यापार परिणमाता है, युद्ध उत्पन्न करता है, योद्धावोंको करता है, योद्धावोंको हथियारोंको बांधता है" आदि कहना उपचार है। इसी प्रकार आत्मा न कर्मोंको ग्रहण करता है, न कर्मोंको परिणमाता है, न कर्मोंको उत्पन्न करता है, न कर्मोंको करता है और न कर्मोंको बांधता है, फिर भी "आत्मा कर्मोंको ग्रहण करता है, कर्मोंको परिणमाता है, कर्मोंको उत्पन्न करता है, कर्मोंको करता है, कर्मोंको बांधता है" आदि कहना उपचार है।

११८—और भी देखो प्रजाजन यदि दोषोंमें लगे तो कह दिया जाता है कि इन दोषोंका उत्पादक राजा है और प्रजाजन गुणोंमें लगे तो कह दिया जाता है कि इन गुणोंका उत्पादक राजा है। यद्यपि प्रजाके दोष गुण प्रजामें ही व्याप कर रहते हैं, राजामें व्याप कर नहीं रहते हैं, तो भी मात्र राज्यके प्रसङ्गका आधार पाकर लोक ऐसा कह देते हैं। वह सब उपचारसे कहना है। इसी प्रकार पुद्गल द्रव्यमें गुण दोष आवे, तो पुद्गलके व्याप्यव्यापक भावसे ही आते हैं, किन्तु जीव भाव वहां निमित्तमात्र है, इस प्रसङ्गका आधार पाकर लोक ऐसा कह देते हैं कि पुद्गल द्रव्यके गुण दोषोंका अथवा पुद्गल द्रव्यका व उसके गुणका उत्पादक आत्मा है। यह सब उपचार मात्र कथन है।

११९—यहां प्रश्न होता है कि पुद्गल कर्मका उत्पादक आत्मा नहीं है तो कौन है? उत्तर—पुद्गल भी द्रव्य है, अतः उसमें भी परिणमन शक्ति है, सो जीवविभावका निमित्त पाकर योग्य पुद्गल द्रव्य स्वयं पुद्गल कर्मरूप परिणम जाता है। जैसे कि कलशरूपसे परिणत होने वाली मिट्टी स्वयं कलशरूप परिणम जाती है। इस तरह पुद्गलकर्मका कर्ता निश्चयसे वही पुद्गल द्रव्य हुआ।

१२०—इसी प्रसङ्गमें यह भी प्रश्न उठ सकता है कि जीवविभाव (रागादि) का कर्ता कौन है? उत्तर—जीव भी द्रव्य है, वह

भी परिणमन स्वभावी है। अतः कर्मोदयको निमित्तमात्र पाकर जीव स्वयं रागादि विभावरूप परिणम जाता है। सो यह जीव जब क्रोधमें उपयुक्त होता है, तब यह क्रोधरूप होता है, जब मानादिमें उपयुक्त होता है, तब मानादिरूप हो जाता है। जैसे कि गरुड़के ध्यानमें परिणत हुआ मनुष्य स्वयं गरुड़ की तरह चेष्टावाला हो जाता है। इस तरह निश्चयसे जीवविभावका कर्ता जीव हुआ।

१२१—यदि जीव ज्ञानी है तो वह ज्ञानमय भावका कर्ता होता है, यदि अज्ञानी जीव है तो अज्ञानमय भावका कर्ता होता है, क्योंकि ज्ञानी आत्मासे ज्ञानमय ही भाव होते, अज्ञानी आत्मासे अज्ञानमय ही भाव होते हैं। जैसे कि सुवर्णसे बनने वाले आभूषण सुवर्णमय ही होते हैं और लोहेसे बनने वाले कड़े आदि लोहेमय ही होते हैं।

१२२—जीवका परिणमन पुद्गल द्रव्यसे पृथक् है और पुद्गल द्रव्यका परिणमन जीवसे पृथक है। यदि निमित्तभूत उदय-प्राप्त पुद्गल कर्मके साथ ही जीवका रागादि परिणाम हो जावे तो जीव व पुद्गल कर्म इन दोनोंमें ही रागादि अज्ञानका परिणमन होना चाहिये। जैसे कि मिलाये गये चूना और हल्दी इन दोनोंमें ललाईका परिणमन हो जाता है। किन्तु, यहां तो अकेले जीवमें ही रागादि अज्ञानका परिणमन होता है, इससे यह बात सिद्ध ही है कि जीवका रागादि परिणमन निमित्तभूत पुद्गलकर्मसे पृथक् ही है।

१२३—इसी तरह यदि निमित्तभूत रागादि अज्ञान परिणत जीव के साथ ही पुद्गल द्रव्यका कर्म परिणमन हो जाय तो पुद्गल द्रव्य और जीव इन दोनोंका कर्मपरिणमन होना पड़ेगा। जैसे कि मिलाये गये हल्दी व चूना इन दोनोंका एक साथ ललाईका परिणमन हो जाता है। किन्तु कर्मत्व परिणमन अकेले पुद्गल द्रव्यका ही होता है, अतः पुद्गल द्रव्यका कर्मपरिणमन निमित्तभूत जीवविभाव से पृथक् ही है।

१२४—अथवा अभिन्न कर्तृकर्मताका विकल्प भी व्यवहारनय है और अकर्ताका अभिप्राय निश्चयनय है। तिस पर भी कर्ताका

To report error, please contact vikasnd@gmail.com Version 1

विकल्प करना या अकर्ताका विकल्प करना ये दोनों नयपक्ष हैं, दोनों विकल्प इन्द्रजालवत् असार हैं। जैसे इन्द्रजालका रूप रंग आदि सब दिखनेमात्र को है, अध्रुव है, इसी प्रकार ये भी समस्त विकल्प कल्पनामात्र हैं, अध्रुव हैं। जो इन दोनों (समस्त) प्रकारके विकल्पोंसे याने समस्त नयपक्षोंसे परे हो जाता है, वही समयसारका अनुभव करता है।

१२५—जिसके निष्पक्ष तत्त्वज्ञानका विकास ही समस्त इन्द्रजाल (विकल्पजाल) को नष्ट कर देता है, वह चैतन्यमात्र तेज मैं हूँ। इस परमपारिणामिक भावका परिचय पा लेने वाले ज्ञानीके परपदार्थके परिग्रहण करनेमें उत्सुकता नहीं रहती है, अतः वह वस्तुस्वरूप व विकल्पोंका स्वरूप ही जानता है, किन्तु नित्य उदित चिन्मय स्वभावमें उपयुक्त होनेसे उस समय वह स्वयं विज्ञानघनभूत है, अतः वह किसी भी नयपक्षको ग्रहण नहीं करता। जैसे कि भगवान् केवल ज्ञानी देव विश्व ज्ञाता होनेसे वस्तुस्वरूप व विकल्पादि पर्यायों का स्वरूप ही जानते हैं, किन्तु स्वयं विज्ञानघनभूत होनेके कारण किसी भी नयपक्षके परिग्रह का अत्यन्त अभाव है, अतः किसी भी नयपक्षको ग्रहण नहीं करते।

१२६—इस जीवके अनादिसे अब तक मतिज्ञान श्रुतज्ञानके परिणाम व प्रवाह रूप से चले आये। सो ये उठे तो स्वभावमें से परन्तु मिथ्यात्वके उदयवश अपने श्रोतका विलास छोड़कर इन्द्रिय व मन द्वारसे परके विलासकी बुद्धिमें उपयुक्त रहे, विकल्प जालमें भ्रमण करते रहे। जब प्रज्ञाबलसे आत्माको ज्ञानानन्दस्वभावी निश्चित कर लेता है, तब परसे लौट कर आत्माके अभिमुख होकर ये ज्ञान आत्मविलास करते हैं व निर्विकल्प होकर समयसार (स्व) का संवेदन करते हैं। जैसे कि समुद्र का जल समुद्रमें शोभा देता है, वही जल रविके प्रखर किरणोंके संगोगवश अपने स्थानसे च्युत होकर व सघन होकर यत्र तत्र बादलोंके रूपमें घूमता रहता है। जब वही जल तरल स्वभावमें आता है, तब बरसकर व समुद्र के अनुकूल निम्न पथसे बह कर समुद्रमें मिल जाता है।

इति कर्तृकर्माधिकार समाप्त

पुण्यपापाधिकार

१२७—इस तरह निमित्तनैमित्तिक भाव होनेपर भी केवल एक किसी भी वस्तुपर दृष्टि रहनेसे आत्मा वस्तु-स्वरूपपर पहुँचता है। जीव केवल अपने परिणामका कर्ता होता है। जीवके विभाव परिणामको निमित्त पाकर पुद्गल कार्माणवर्गणायें स्वयं कर्मरूप परिणम जाते हैं। पुद्गल द्रव्य जो कर्मरूप परिणम जाते हैं, वे कर्म सभी आत्मस्वभावके विरुद्ध हैं, तो भी उनमें जो प्रकृति पड़ी है, उसकी संक्षिप्त अपेक्षासे वे दो प्रकारके हैं, १—शुभ कर्म, २—अशुभ कर्म। शुभ कर्मका अपर नाम है पुण्य कर्म, अशुभ कर्म का अपर नाम है पाप कर्म। देखो हैं ये दोनों कर्म ही, किन्तु जैसे एक शूद्रीके उदरसे उत्पन्न हुए दो बालक हैं, वे किसी कारण जन्मते ही, घरसे विछुड़ जांय, उनमें से एक तो ब्राह्मणी के हाथ लगे और उसके यहां पले और दूसरा शूद्रीके हाथ लगे और उसके यहां पले, तो कुल संस्कारवश दोनोंकी प्रवृत्ति भिन्न भिन्न हो जाती है। एक तो "मैं ब्राह्मण हूँ मुझे मदिरासे दूर ही रहना चाहिये" इस तरह ब्राह्मणत्वके अभिमानसे मदिराको दूरसे ही छोड़ देता है और दूसरा "मैं शूद्र हूँ" इस प्रकार शूद्रत्वके अध्यवसानसे मदिरासे नित्य स्नान करता है, मदिरा को पीता रहता है। हैं वास्तवमें दोनों शूद्रसे जाये व शूद्र। पुण्य कर्मकी प्रकृति साताविकल्पमें निमित्त होनेकी पड़ जाती है व पाप कर्मकी प्रकृति असाताविकल्पमें निमित्त पड़ जाती है। वस्तुतः दोनों कुशील ही हैं।

१२८—जैसे चाहे सोनेकी बेड़ी हो और चाहे लोहेकी बेड़ी हो, कैदीके लिये दोनों एकसे ही बन्धन हैं। इसी प्रकार चाहे पुण्यकर्म हो और चाहे पाप कर्म हो संसारी जीवके लिये दोनों बन्धन हैं। कोई कर्म कुशील है व कोई कर्म सुशील है, ऐसा विपाककी अपेक्षा कहा जाता है, किन्तु जब दोनों कर्मोंका कार्य संसारभाव है, तब कोई कुशील व कोई सुशील ऐसा भेद क्यों? सभी कर्म कुशील ही हैं। सभी कर्मोंका हेतु अज्ञानभाव है, सभी कर्मोंका स्वभाव जड़पना है, सभी कर्मोंका अनुभव पौद्गलिक है, सभी कर्म बन्धमार्ग हैं।

To report error, please contact vikasnd@gmail.com

Version 1

१२६—शुभ व अशुभ (पुण्य, पाप) दोनों ही कर्म कुशील हैं, इनका व इनके कारणरूप विभावोंका राग व संसर्ग छोड़ देना चाहिये। जैसे कि करेणुकुट्टिनी चाहे सुन्दर बनी हो, चाहे असुन्दर बनी हो, कुशील है याने धोखा देकर गिराने वाली है, अतः बुद्धिमान बनहस्ती को उसका राग व संसर्ग छोड़ देना चाहिये। बनहस्तीको हथयानेके लिये शिकारी लोग बन में एक गड्ढा खोदकर उस पर बांसोंकी पंचे बिछाकर जमीन जैसे रंगवाले कागजसे मढते हैं और उस पर एक बांस व कागजोंकी सुन्दर रचनामें झूंठी हस्तिनी तैयार कर देते हैं। यह झूंठी हस्तिनी सुन्दर भी बने तो भी कुशील है याने गड्ढेमें गिराने की कारण है। बुद्धिमान वनहस्तीको चाहिये इस कुशील करेणुकुट्टिनी का न तो मन से राग करे और न वचनसे व कायसे संसर्ग करे। इसी प्रकार पुण्य कर्म भी धोखा देकर गड्ढे में गिराने वाला है व पापकर्म तो दुःख देनेकी प्रकृति वाला है ही, सो दोनों कर्म कुशील हैं। इनका राग व संसर्ग नहीं करना चाहिये।

१३०—जैसे कि वह करेणु कुट्टिनी सुन्दर भी हो व चटुलमुखी भी हो तो भी हस्तीको बंधके लिये खींचने वाली है। इसी प्रकार कोई कर्म (पुण्य कर्म) इष्टभोग समागम देने वाला हो व सुखकारी भी हो तो भी जीवको बन्धके लिये खींचने वाला है। अतः उसका भी राग संसर्ग छोड़ देना चाहिये। पाप कर्म भी जीवको बन्धके लिये खींचने वाला है, उसका भी राग व संसर्ग छोड़ देना चाहिये।

१३१—सभी प्रकारका राग हो जीवका बन्धन है। जो राग-रहित होता है, वही कर्मोंसे मुक्त होता है। रागरहित अवस्था ज्ञान-मय अवस्था है। अतः ज्ञान ही मोक्षका हेतु है। इस परमार्थभूत ज्ञान के बिना व्रत व तप बालव्रत व बालतप कहलाते हैं। परमार्थभूत ज्ञानकी दृष्टिसे रहित पुरुष ही पुण्यकी चाह करते हैं व पापमें प्रवृत्त होते हैं। ये सभी कर्म मोक्षके कारणका आवरण करते हैं। ज्ञानका सम्यक्त्व मोक्षका कारण है। यह स्वभाव परभावभूत मिथ्यात्व कर्मके उदयसे प्रकट नहीं हो पाता। जैसे कि यद्यपि श्वेत वस्त्रका

स्वभाव श्वेतपना है, तो भी परभावभूत मलके आने से प्रकट नहीं हो पाता।

१३२—ज्ञानका ज्ञान मोक्षका कारण है। यह स्वभाव भी परभावभूत ज्ञानावरण कर्मके उदयसे प्रकट नहीं हो पाता। जैसे कि श्वेत वस्त्र का स्वच्छत्व स्वभाव है तो भी परभावभूत मलके आनेसे वह प्रकट नहीं हो पाता।

१३३—ज्ञानका चारित्र भी मोक्षका हेतु है। यह स्वभाव भी चारित्र मोह कर्मके उदयसे प्रकट नहीं हो पाता। जैसे कि श्वेत वस्त्र का स्वभाव स्वच्छता है, किन्तु परभावभूत मलके आनेसे प्रकट नहीं हो पाता। ये तीनों तत्व याने सम्यग्दर्शन (ज्ञानका सम्यक्त्व), सम्य-ग्ज्ञान (ज्ञानका ज्ञान), सम्यग्चारित्र (ज्ञानका चारित्र) भिन्न भिन्न रूपमें मोक्षके कारण नहीं हैं, किन्तु एक रूपमें मोक्षके कारण हैं। अतः अभेदविवक्षामें ज्ञान ही मोक्षका कारण है। इस ज्ञानके विकासके बाधक निमित्त सभी कर्म हैं। अतः सभी कर्मोंका त्याग कर देना चाहिये। कर्मोंका त्याग यही है कि कर्मके हेतुभूत जीवकर्म (विभाव) में व कर्मके फलभूत परिणाममें व इष्ट समागममें राग व संसर्ग न करे।

इति पुण्यपापाधिकार समाप्त

—०—

आस्रवाधिकार

१३४—पुण्य पापके आस्रव (आने) का कारण राग, द्वेष, मोह, भाव है। इन दोनों प्रकारके याने कर्मास्रव व जीवास्रव (रागादिभाव) का निरोध ज्ञानभावसे होता है। ज्ञानभावके अभावमें अज्ञानमय भाव होता है, जो राग, द्वेष, मोह, भावके सम्पर्कमें भाव होता है, वह सब अज्ञानमय भाव है। यह अज्ञानमय भाव आत्माको कर्म करनेके लिये प्रेरित करता है। जैसे कि चुम्बक पत्थरके सम्पर्क

To report error, please contact vikasnd@gmail.com
Version 1

में जायमान प्रभाव लोहेकी सूचीको आकर्षित होनेको प्रेरित करता है।

१३५—और, जैसे चुम्बक पत्थर हट जाय तो उस वियोगसे होने वाली स्थिति लोहेकी सूचीको स्थित रहने देती है। इसी प्रकार रागादि आस्रवसे भिन्न स्वभावी चैतन्यमात्र आत्माके विवेकसे होने वाला ज्ञानमय भाव आत्माको स्वभावसे ही कर्म करनेकी उत्सुकताके अभावकी स्थितिको स्थापित करता है। सो रागादिसंकीर्ण भाव आत्माको कर्तृत्वमें प्रेरक होनेसे बन्धक हैं व रागादिसे असंकीर्णभाव याने ज्ञानमय भाव स्वभावका उद्भासक होनेसे केवल ज्ञायक है, बन्धक नहीं होता।

१३६—जैसे पका फल पेड़के डंठलसे गिर जाय तो फिर डंठल के सम्बन्धको प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार जो कर्मभाव अथवा कर्मोदयज भाव स्थानसे वियुक्त हुआ, वह फिर जीवमें सम्बन्धको प्राप्त नहीं होता। इस तरह ज्ञानमय भाव रागादिसे असंकीर्ण हो जाता है।

१३७—अज्ञान अवस्थामें जो कर्म बद्ध हो गये थे, वे ज्ञानी जीवके आत्माके साथ बादमें भी कुछ समय तक रहते हैं, किन्तु वे अब ऐसे हैं जैसे कि पड़ा हुआ मिट्टीका पिण्ड। पड़ा हुआ मिट्टी का पिण्ड कुछ विभावका कारण नहीं होता। इसी तरह वे कर्म कर्माणशरीरसे ही बंधे हैं याने कार्माणपिण्ड हैं, वह उपयोगसे या ज्ञानी आत्मासे नहीं बंधा है। तात्पर्य यह है कि जहां आवास्रव दूर हुआ कि द्रव्यास्रव तो स्वतः ही भिन्न था, अब आत्मा निरास्रव हो गया, शुद्ध ज्ञायक हो गया।

१३८—यद्यपि किसी अवस्था (गुणस्थान) तक ज्ञानी जीवके भी कर्म-बन्ध होता है, परन्तु वह ज्ञानीकी दशाके कारण नहीं, किन्तु उस जीवके जो राग विभाव शेष है, उसके कारण। वह राग बुद्धि-पूर्वक नहीं है, इसलिये आस्रवका निषेध है, किन्तु वह ज्ञान-दशा जघन्य है, इससे अनुमान होता है कि अबुद्धिपूर्वक विभाव कलङ्क अवश्य है,

यही आस्रव का वहां हेतु है। अतः तब तक अपनेको ज्ञानभावना होना चाहिये जब तक कि पूर्ण ज्ञानघन हो जाय। यहां पर आशंका होती है कि जब उसके अबुद्धिपूर्वक विपाक है, बद्ध कर्मोंका सत्व है, उसका भी तो उदय होगा, तब उस ज्ञानीको निरास्रव क्यों कहा गया ? समाधान यह है कि जैसे किसी पुरुषका बाला स्त्रीसे विवाह हुआ तो इस अवस्थामें तो वह उपभोग के योग्य होती ही नहीं। जब यह बाला तरुण अवस्था पावेगी तब पुरुषके रागानुसार उपभोगने योग्य होगी। इस अवस्था में यदि पुरुषके वैराग्यभाव आवे तब वह निरुपभोग ही रह गई। इसी प्रकार जिन कर्मोंका बंध अज्ञान अवस्था में हुआ उन कर्मोंका सत्त्व तो इस समय है, किन्तु वे कर्म विपाकानु-भवके योग्य तो तब होंगे जब उनका उदयकाल आवेगा। जब उनका उदयकाल आवेगा उस समय आत्माके रागभावके अनुसार विपाकानु-भवके योग्य होंगे। यदिउस समय आत्मा तत्व-ज्ञानके बलसे विरागभाव के उन्मुख रहा, तब वे कर्म निरुपभोग होकर ही खिर जायेंगे। अथवा जो उदयमें आवेंगे वे जीवविभाव राग, द्वेष, मोहका निमित्त नहीं पावेंगे, तो वे नवीन आस्रवके कैसे कारण होंगे ? अथवा जो जीव चौथे व चौथेसे ऊपर १० वें गुणस्थान तक जिस गुणस्थानमें है उसके ज्ञान वैराग्यके अनुसार अनन्तानुबन्धी आदि कर्मोंका बंध होता ही नहीं।

१३९—रागादिभावास्रवके बिना नवीन कर्मोंका बंध नहीं होता। हां तत्वज्ञ आत्मा ही कदाचित् तत्वज्ञतासे च्युत हो जाय तो रागादिभाव का निमित्त पाकर पूर्वबद्ध कर्मोदय आस्रव बंधका कारण हो जायगा। अथवा जो जीव शुद्ध तत्वके परिचयसे दूर हैं, उन बहि-र्मुख जीवोंके पूर्वबद्ध कर्मोदय नवीन कर्मबंधोंको करते हैं। सो जैसे किसी पुरुषने भोजन किया तब वह पेटमें गया भोजन उदराग्निका निमित्त पाकर मांस, वसा, रुधिर आदि अनेक रूप परिणम जाता है। इसी प्रकार अज्ञानी जीवके अथवा तत्वज्ञानसे च्युत हुए जीवके कर्म-विपाकमें जो कर्म बंधते हैं वे रागादि भावके अनुसार ज्ञानावरणादि अनेक प्रकारमें परिणम जाते हैं। जिस तत्वज्ञान के अभाव में कर्मबंध

To report error, please contact vikasnd@gmail.com
Version 1

होता है वह तत्वज्ञान शुद्धनयके आशयसे प्रकट होता है, अतः मुमुक्षवों को निज शुद्ध आत्माको अभेदरूप में ग्रहण करने वाले शुद्धनयके च्युत नहीं होना चाहिये। निर्विकल्प समाधिमें शुद्धनयका आशय स्वयं छूट जाता है, वह तो शुद्धनयका फल ही है।

इति आस्रवाधिकार समाप्त

—०—

संवराधिकार

१४०—आस्रवके निरोधको संवर कहते हैं। संवरका मूल विपरीत आशय रहित है न। भेदविज्ञानके प्रसङ्गमें जो बातें आती हैं वे ४ हैं—आत्मा, भावकर्म, द्रव्यकर्म व नोकर्म (शारीरादि)। यहां यह जिस दृष्टिमें दिखे कि आत्मामें (उपयोगमें) ही आत्मा है, इसमें क्रोधादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म व शरीरादि नोकर्म नहीं हैं और न इनमें शुद्ध आत्मा है। खुद ही आहार है व खुद ही आधेय है। जैसे कि आकाश द्रव्य आकाशमें ही प्रतिष्ठित है, उसमें परकी न अधारता है और न आधेयता है। इसी प्रकार ज्ञानमें कहो या अभेद-नयसे आत्मामें कहो, खुदमें खुदकी उठाधारता है व खुदकी आधेयता है। यहां मुख्यरूपसे यह भेदविज्ञान दृष्टिमें लेना है कि क्रोध आदिमें उपयोग नहीं, उपयोगमें क्रोधादि नहीं, क्रोधादि क्रुध्यतादिस्वरूपमें है, ज्ञान ज्ञानतास्वरूपमें है। इस भेदविज्ञान बलसे क्रोधादिको हेय व ज्ञानको उपादेय देखा जाता है। इसके प्रसादसे उपादेयताका भी विकल्प छूटकर शुद्ध आत्माकी उपलब्धि होती है, शुद्धात्माकी उप-लब्धिसे राग, द्वेष, मोहका अभाव होता है, यही अवस्था संवर तत्व है।

१४१—जिस आत्माके उक्त प्रकारसे भेदविज्ञान हो जाता है, उसके ऐसा दृढ़तम अवबोध रहता है कि जैसे तीव्र संतप्त अग्निमें तपाया गया भी सोना अपने सुवर्णपनेको नहीं त्यागता इसी प्रकार

तीव्र कर्मविपाक से युक्त होनेपर भी ज्ञान अपने ज्ञानस्वभावको नहीं त्यागता। यदि त्याग दे तो वस्तु तो स्वभावमात्र है स्वभावके त्यागते ही वस्तुका नाश हो जायगा। ऐसा जानता हुआ कर्मसे आक्रान्त होने पर भी ज्ञानी राग, द्वेष, मोहको प्राप्त नहीं होता अपितु शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त होता है।

१४२—यहां आशंका हो सकती है कि आत्मा तो इस समय परोक्ष है, उसका ध्यान कैसे किया जा सकता है? समाधान यह है कि परोक्ष भी कोई रूपी पदार्थ परके उपदेशसे लिखे गये रूपको देखकर जैसे कोई पुरुष जान लेता है, वैसे ही उपदेशादिसे "मैंने जीव देखा जाना" इत्यादि रूपसे अवधारित कर लिया जाता है। तथा यह स्वसंवेदनरूप भावज्ञान यद्यपि केवलज्ञानकी अपेक्षा परोक्ष है तो भी इन्द्रियजन्य सविकल्प ज्ञानकी अपेक्षा तो प्रत्यक्ष है ही। अथवा पहिले समयमें भी तो इसी प्रक्रियासे आत्माको ग्रहण करते थे। दिव्य ध्वनि के द्वारा अथवा अन्य उपदेशादिसे तो केवल कुछ कहा ही तो जाता था, ग्रहण करना तो स्वसंवेदन ज्ञानसे ही होता था।

इस शुद्धात्मतत्वकी उपलब्धिसे मिथ्यात्वादि भावोंका अभाव है। उसका अभाव होने पर रागादिका अभाव होता है। उसके अभाव होने पर कर्मका अभाव हो जाता है। उसके अभाव होने पर शरीर का अभाव हो जाता है। शरीर का अभाव होने पर संसारका अभाव होता है। संसार ही दुःख है संसार के अभावमें सर्व दुःखोंका अभाव है। यहां शुद्धात्मतत्वकी उपलब्धिका मूल कारण भेदविज्ञान है। अतः सर्वयत्नसे भेदविज्ञानकी भावना करना चाहिये।

इति संवराधिकार समाप्त

—०—

निर्जराधिकार

१४३—विकार के झड़नेको निर्जरा कहते हैं। निर्जरा दो

To report error, please contact vikasnd@gmail.com Version 1

प्रकारकी है (१) भाव निर्जरा, (२) द्रव्य निर्जरा । ज्ञानी जीवके निर्जरा तो संवरपूर्वक होती है और अज्ञानी जीवके निर्जरा बन्धपूर्वक होती है अर्थात् ज्ञानी जीवके कर्मनिर्जरा व भावनिर्जरा (विभावका होकर व्यय होना) अन्य बंधको नहीं बढ़ाती किन्तु मिथ्यादृष्टिके कर्मनिर्जरा (उदय या उदीरणा) व भावनिर्जरा (विभावका उन्मग्न होकर निमग्न होना) अन्य कर्म बंधका कारण बन जाती है । जैसे कि हाथीका स्नान और धूल चिपटनेका कारण ही बन जाता है और हाथी सूंडोंसे धूल ग्रहण कर कर सारे शरीरको धूसरित कर देता है।

१४४—तथा, जैसे कोई तस्कर (चोर) कोतवालके द्वारा गिरफ्तार हो जाय अन्तमें मरणादिका क्लेश सुना दिया जाय तो यद्यपि वह तस्कर मरणादिक नहीं चाहता है तो भी मरणादिका अनुभव करता ही है । इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि आत्मीय सुखको उपादेय व विषय सुखको हेय जानता है तो भी कर्मविपाकरूपी कोतवाल द्वारा गिरफ्तार हुआ यह बिना रतिके विषय सुखादिका अनुभव करता है । इसी कारण ज्ञानीकी यह निर्जरा अथवा उपभोग बंधके लिये नहीं होता, प्रत्युत निर्जराके निमित्त ही होता है।

१४५—जैसे कि विषका पान जनरली मरणका कारण होता है, लेकिन विषवैद्य विषका पान करता हुआ भी मंत्र औषधि आदिकी सामर्थ्यसे मरणको प्राप्त नहीं होता । इसी प्रकार पुद्गल कर्मका उदय अज्ञानी जीवके रागका सद्भाव होनेसे बन्धका कारण होता है, लेकिन ज्ञानी जीवके रागादि अज्ञानमय भाव न होनेसे ज्ञानके सामर्थ्यसे पुद्गल कर्मका उदय भोगता हुआ भी बंधको प्राप्त नहीं होता ।

१४६—तथा, जैसे कोई पुरुष रोगके प्रतीकारके निमित्त मद्यमें मद्यकी विरोधी कुछ औषधि डालकर पीता है तो वह मद्यपानके रागके अभावके कारण मतवाला नहीं होता । इसी प्रकार कर्मविपाकज वेदनाके प्रतीकारके निमित्त तत्वप्रतीतिसहित वर्त्तकर पञ्चेन्द्रियके विषयभूत भोजनादि पुद्गल द्रव्यके उपभोग होनेपर भी तत्वज्ञानी

उपभोगमें प्रतीतिमें तो सर्वथा रागका अभाव होनेसे व चर्यामें यथायोग्य रागका अभाव होनेसे मतवाला नहीं होता ।

१४७ – तथा, जैसे किसीके घर विवाहादि प्रकरण (function) में दूसरे घरसे आये हुए पुरुषके भी विवाहादि प्रकरणमें करने योग्य चेष्टा होती है तो भी उस प्रकरणका राग न होनेसे वह अप्राकरणिक है । इसी प्रकार निर्विकार निज शुद्धात्म तत्वका प्रत्यय करने वाला ज्ञानी अपने गुणस्थानके योग्य पञ्चेन्द्रियके विषयोंको सेवता हुआ भी उस वृत्तिका राग न होनेसे असेवक है । और, विवाहके घर वाला पुरुष कार्यव्यासङ्गसे गीतादि विवाह चेष्टाको नहीं कर रहा है तो भी विवाह प्रकरणका राग होनेसे वह प्राकरणिक है । इसी प्रकार अज्ञानी जीव उपभोग न मिलनेसे या अन्य कार्यव्यासङ्गसे विषयको न भी सेवता हो तो भी वह सेवक है ।

१४८—सम्यग्दृष्टि जीवके पूर्वबद्ध कर्मविपाकसे राग विभाव आता है तो भी वह यही जानता है कि यह कर्मोदयनिमित्तक भाव है, मेरा स्वभाव नहीं, मैं तो शुद्ध ज्ञायक भावमात्र हूँ । जैसे कि स्फटिक पाषाणमें पर डाककी उपाधिसे उत्पन्न जो लालिमादि है वह औपाधिकभाव है, स्फटिकका स्वभाव भाव नहीं है, वह तो निजस्वच्छतामय है।

१४९—आत्माका विशुद्ध स्वभाव ही आत्माका उत्कृष्ट पद है । समस्त अस्थिर (विनाशिक) भावोंको याने द्रव्यकर्म व भावकर्म (विभाव) को छोड़ करके एक इस ही एक ज्ञानभावका अवलम्बन करना चाहिये । यद्यपि इस ज्ञानभावके मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान व केवलज्ञान ये सब परिणमन हैं, किन्तु वह सब निश्चयसे एक ही पद है । जैसे मेघपटलका कम अधिक आवरण होनेके कारण सूर्यको भी प्रकाशभेद होते हैं, प्रकाशभेदोंके कारण सूर्यमें भेद नहीं हो जाता, सूर्य तो एक ही है, बल्कि वे प्रकाशभेद भी सूर्यकी एकताका ही संकेत कराते हैं । इसी प्रकार कर्मपटलका कम अधिक आवरण होनेके कारण ज्ञानके भी जाननभेद होते हैं किन्तु उन ज्ञानातिशय भेदोंके कारण ज्ञानस्वभावमें भेद नहीं हो जाता, ज्ञान-

To report error, please contact vikasnd@gmail.com Version 1

स्वभाव तो वही एक है। बल्कि वे ज्ञानातिशयभेद भी ज्ञानस्वभावकी एकता का संकेत कराते हैं।

१५०—जैसे एक रत्नाकर समुद्रमें छोटी बड़ी अनेक लहरें उठती हैं वे सब एक जलरूप ही हैं। इसी तरह यह चैतन्य रत्नाकर एक ही हैं, इसमें कर्मके निमित्तसे ज्ञानके अनेक भेद अपने आप व्यक्तिरूप होकर प्रकट होते हैं, वे व्यक्तियाँ एक ज्ञानरूप ही हैं।

१५१—जिस आत्माने इस निज ज्ञायक स्वभावका परिचय किया उसके इच्छाभावरूप अज्ञानमयभाव नहीं रहता और इसी कारण वह अन्य पदार्थों का व परभावोंका ज्ञाता तो रहता है किन्तु ज्ञेय पदार्थमें तन्मय नहीं होता अतः वह निष्परिग्रह होता है। जैसे कि दर्पणमें जो प्रतिबिम्ब है उसका देखने वाला ज्ञाता तो रहता किन्तु उस प्रतिबिम्बसे तन्मय नहीं हो जाता। इस तरह यह ज्ञानी पुण्य (शुभोपयोगरूप धर्म) का, पाप (विषय कषाय रूप अधर्म) का, अशन-पानका, उपभोगका ज्ञायक रहता है, परिग्रही नहीं होता है।

१५२—ज्ञानी जीव न बंधके निमित्तभूत रागादिभावोंमें राग करता है और न उपभोगके निमित्तभूत सुख दुःखादिक भावों में राग करता है। यहां यह विशेष ध्यान देनेकी बात है कि बंधके निमित्तभूत भाव तो ज्ञानीके होता ही नहीं, उपभोगका निमित्तभूत भाव कदाचित् होता है। तात्पर्य यह है कि भोगनिमित्त थोड़ा पाप तो ज्ञानीके कदाचित् हो जाता है सो वहां भी ज्ञान व वैराग्यके सामर्थ्यसे अबंध रहता है, बंधनिमित्तभूत मिथ्यात्वादि भाव तो होते ही नहीं हैं। निष्प्रयोजन अपध्यान बंध निमित्तभूत भाव है। ज्ञानी यह पाप नहीं बांधता, जैसे कि इस अपध्यानसे शालिमत्स्य बहुत पाप बांधता है।

१५३—ज्ञानी जीवके उपभोग कर्म में राग रस नहीं आता अतः ज्ञानी परिग्रह भावको प्राप्त नहीं होता। जैसे कि जो वस्त्र लोध्र फिटकरीसे नहीं भिगोया है उसपर रंगका मेल बाहर ही लोटता है, वस्त्रमें दृढ़ जमता नहीं है।

१५४—ज्ञानी जीव समस्त राग रससे दूर रहनेके स्वभाव वाला है अतः उपभोग अथवा कर्मके मध्य पड़ा हुआ भी उपभोग अथवा कर्मसे लिप्त नहीं होता है। जैसे कि सुवर्ण कीचड़ अथवा जंगसे छूटे रहनेके स्वभाव वाला है अतः वह कीचड़ अथवा जंगसे लिप्त नहीं होता है।

१५५—अज्ञानी जीव रागरससे लिप्त होनेकी प्रकृति वाला है अतः उपभोग अथवा कर्मके मध्य पड़ा हुआ कर्म से लिप्त हो जाता है। जैसे कि लोहा कीचड़ अथवा जंगसे लिप्त हो लेनेके स्वभाव वाला है अतः वह कीचड़ अथवा जंगसे लिप्त हो जाता है।

१५६—जैसे धौंकनी द्वारा आगसे धौंके गये सिंदूर व शीसा सहित लोहा पुण्योदय होनेपर किट्ट कालिका मैलसे रहित होकर सुवर्ण हो जाता है। इसी प्रकार तपस्या रूपी धौंकनी द्वारा ध्यानरूपी अग्निसे धौंका गया याने तपाया गया रत्नत्रयकी औषधि सहित यह लोहास्थानीय यह जीव किट्टस्थानीय कर्म व कालिकास्थानीय रागादिभावसे रहित होकर मुक्त हो जाता है।

१५७—परद्रव्यका उपभोग ज्ञानीके अज्ञानमय भावको उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि परपदार्थ अन्य परके भाव बनानेमें कारण नहीं है। ज्ञानी ही यदि ज्ञानभावसे च्युत होकर अज्ञानी रूपसे परिणमने लगे तो चाहे परद्रव्य भोगे या न भोगे स्वयं अज्ञानरूप हो गया। इस कारण यह बात सुसिद्ध है कि ज्ञानी जीवके परके अपराधसे याने उपभोगके कारण बंध नहीं होता किन्तु जब बंध होगा तब स्वके अपराधसे होगा। जैसे कि शंख जीवका शरीर श्वेत है वह कैसे ही परद्रव्य (काली, पीली मिट्टी आदि) को भोगे उससे वह काला नहीं हो सकता। हां वही शंख शरीर यदि श्वेतपनेको छोड़कर काले रूपमें परिणम जावे तो वह परद्रव्य को भोगे या न भोगे स्वयं काला हो जायगा।

१५८—अज्ञानी जीव आगामी पुण्य सुख चाहनेके लिये व्रत, तप आदि करता है तो उससे उपार्जित पापानुबंधी पुण्य भविष्यमें

To report error, please contact vikasnd@gmail.com Version 1

भोगोंको देता है। जैसे कि कोई पुरुष आजीविकाके लिये राजाकी सेवा करता है तो राजा उसे आजीविका देता है।

१५६—अथवा कोई ज्ञानी जीव निर्विकल्प समाधिके अभावमें विषय कषायकी आपदासे बचनेके लिये व्रत, शील, उपवास, तप आदि करता है। वह पुण्यसुखकी चाहसे नहीं करता है। सो उसके यद्यपि पुण्यबंध होता है किन्तु आगामी भवमें उसके उदयकाल में भी वह ज्ञानी होता हुआ रागादि फलको नहीं पाता और मिले हुए पुण्य समागमसे विरक्त हो मोक्षमार्गका सेवन करता है। जैसे कि भरत चक्रवर्ती आदि महापुरुषों ने किया है।

१६०—ज्ञानी जीव कर्मका फल ही नहीं चाहते, इसलिये कदाचित् ज्ञानीको पूर्वार्जित कर्मविपाकको भोगना भी पड़े तो उस से होने वाली चेष्टाका कोई फल नहीं चाहता और 'ऐसी चेष्टा हो' यह भी नहीं चाहता, यही कारण है कि वह कर्म या क्रियाफलको नहीं देती है। अथवा, जो कर्मका फल नहीं चाहता उसे कर्म फल नहीं देते। जैसे कोई पुरुष नौकरीके लिये राजाकी सेवा करता है तो राजा उसे नौकरी (वेतन) देता है और जो नौकरीकी चाहसे राजाकी सेवा नहीं करता है उसे राजा नौकरी नहीं देता है।

१६१—ज्ञानी जीव सर्व भयोंसे रहित होते हैं, क्योंकि उनके आत्मा व परद्रव्योंके स्वरूपसत्त्वकी दृढ़ प्रतीति होती है। यही कारण है कि वे सदा निःशङ्क रहते हैं और कदाचित् घोर उपसर्ग व परीषह भी आ जाय तो भी ज्ञानी ज्ञानोपासनासे चिगते नहीं। जैसेकि पाण्डव आदि महापुरुष कठिन उपसर्ग आने पर भी नहीं चिगे।

१६२—ज्ञानी जीव कर्मफलोंकी (सुखोंकी) वाञ्छा नहीं करते हैं, क्योंकि उन्हें स्वरूपसत्वकी दृढ़ प्रतीति है, आनन्दमय आत्मा है उसके अवलम्बनसे ही शुद्ध आनन्दविकासके होनेका उनके विशद अनुभव है। उपसर्ग या आराम सुविधा होने पर भी ज्ञानोपासनासे नहीं चिगते हैं। जैसे कि अनन्तमती कितने ही फुसलाये जाने अथवा ताड़े जाने पर भी विषय सुखकी ओर नहीं गई।

१६३— प्रमत्त ज्ञानी जीवकी रुचि रत्नत्रय भावकी ओर रहती है, जिससे वे रत्नत्रयसे विरुद्ध भावों (वेदनाओं) में खेद मानकर अधीर नहीं होते और न रत्नत्रयधारी अन्तरात्मावोंकी सेवामें ग्लानि करते। जैसे कि उद्दायन राजाने साधुकी रुचिसे, ग्लानिरहित होकर सेवा की।

१६४—ज्ञानी जीवकी निज शुद्ध आत्मतत्वमें प्रतीति, ज्ञाप्ति व चर्याकी भावना होती है जिसके बलसे वह शुभाशुभ भावोंमें व कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुवोंमें संमोहित नहीं होता, जैसे कि ब्रह्मा आदि के व पच्चीसवें तीर्थङ्करके दृश्य दिखानेपर भी रेवती रानी संमोहित नहीं हुई।

१६५—ज्ञानी जीव शुद्धात्मभक्तिके कारण रागादि भावोंको दूर करता है व व्यवहारमें किसी अज्ञानी पुरुष द्वारा होने वाले धर्मापवादको प्रचलित नहीं होने देता। यह धर्मापवाद कई तरीकोंसे दूर किया जाता है, जैसे कि जिनेन्द्रभक्त सेठने व्रतीभेषमें रहने वाले ठगके द्वारा होने वाले धर्मापवादको उसको निष्कलङ्क साबित करके दूर किया जैसें कई आचार्योंने भ्रष्ट साधुवोंको संघ-बाह्य करके धर्मापवादको दूर किया इत्यादि।

१६६—सम्यग्दृष्टि पुरुष कर्मविपाकवश कदाचित् स्वयं उन्मार्ग में जावे तो भेदविज्ञानके बलसे शुद्धात्मतत्वकी भावनामें चित्त स्थिर करके स्वयं को सन्मार्गमें लगाता है और अन्य कोई उन्मार्गमें (विषय-कषायादिवृत्तिमें) पतित होता हो तो उसे तत्वोपदेश आदि द्वारा सन्मार्गमें लगाते हैं। जैसे वारिषेण मुनिने त्यक्त परिग्रहके दिखानेकी घटना बताकर पुष्पडाल मुनिको सन्मार्गमें स्थित किया।

१६७—ज्ञानी जीवके शुद्ध स्वरूपके प्रति अपूर्व वात्सल्य होता है और इसी कारण व्यवहारमें आत्मसाधनाके प्रवर्तक धर्मात्माजनोंमें भी वात्सल्य रहता है, जिस भावके कारण तत्वभावना द्वारा अपने विभाव रूप उपसर्गोंको दूर करता है और प्रयत्नपूर्वक अन्य धर्मिजनों के उपसर्ग व क्लेशको दूर करता है। जैसे श्री विष्णुकुमार मुनिवरने

To report error, please contact vikasnd@gmail.com

अकंपनाचार्य आदि ७०१ मुनियोंके उपसर्गको दूर कराया था।

१६८—ज्ञानी अन्तःक्रिया व वहिःक्रिया द्वारा आत्माका व निज शासनका प्रभावक ही होता है। वह शुद्धात्म-भावनाके बलसे राग द्वेषादि परिणतियोंको दूर करके अपना प्रभावक तो होता ही है साथ ही उसकी मुद्रा व शुभ चेष्टाओंसे लोकमें भी धर्मप्रभावनाका निमित्त होता है। जैसे मुनिवर वज्रकुमारने अपने योगमें स्थिरता की जिसके प्रसादसे राजकृत खड्गका आक्रमण भी फूल बन गया, तथा जैसे मुनिवर मानतुंग आदिके अनेक अतिशयोंने जिनशासनकी प्रभावना की। रत्नत्रयकी प्राप्ति अतीव दुर्लभ है। इसके ही प्रसादसे कर्मोंकी निर्जरा होती है। संवर पूर्वक निर्जरा मोक्षतत्वका कारण है। रत्नत्रयके विपरीत भावमें याने मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्या-चारित्रकी वर्तनामें कर्मबन्ध है, यह संसारका कारण है। अतः संसारके कारणोंसे हटकर मोक्षमार्गके लगनेके परिणाममें यत्न करना चाहिये याने शुद्धात्माका आश्रय करना चाहिये।

इति निर्जराधिकार समाप्त

—o—

बन्धाधिकार

१६९—कर्मबंधका कारण क्या है और वह कैसे मिटे ? यह रहस्य जानना बहुत आवश्यक चीज है। यहाँ कर्मबन्धके कारणको एक दृष्टान्त द्वारा प्रकट किया जाता है। जैसे एक मल्ल अपने शरीरमें तैल लगाकर हाथमें तलवार लेकर शस्त्राभ्यासके लिये धूलवाले अखाड़ेमें कूदता है और वहां कदली आदि पेड़ोंका तलवारसे घात करता है। कुछ समय इस व्यायामके कर लेनेपर उसके देहमें बहुत सी धूल चिपट जाती है। यहां विचार करें कि उस मल्लके देहमें

धूल असलमें किस कारणसे चिपट गई। इसी प्रकार विचार करनेके लिये दार्ष्टान्तिका दृष्टिकोण लेवे। यह संसारी जीव रागादिमें उपयोग लगाकर मन, वचन, कायका योग करके बाह्य साधनोंके आश्रयसे कार्माणवर्गणाओंकरि व्याप्त संसारमें सचित्त अचित्त परिग्रहका संग्रह संहार करता है और परिणाम स्वरूप कर्मसे बंध जाता है। अब यहां विचार करें कि क्या (१) सचित्तादि पदार्थोंका संहारादि किया इससे कर्म बंधा ? (२) क्या बाह्य साधनोंके कारण कर्म बंधा ? (३) क्या मन वचन कायके योगसे कर्म बंधा ? (४) क्या कार्माणवर्गणाओंसे भरे ससारमें रहनेके कारण कर्म बंधा ? जैसे कि दृष्टान्तमें विचार हो सकता है कि (१) क्या कदली आदि वृक्षोंका घात होनेसे देहमें धूल चिपकी ? (२) क्या तलवार हाथमें होनेके कारण धूल चिपकी ? (३) क्या व्यायाम व्यापार करनेसे धूल चिपकी ? (४) क्या धूल भरे अखाड़ेमें रहनेसे धूल चिपकी ?

१७०—उक्त प्रश्नोंपर विचार करनेसे यह समाधान होता है कि सचित्त पदार्थ (प्राणी) के घातसे कर्म नहीं बंधता, क्योंकि यदि प्राणिघातसे कर्म बंधता हो तो ईर्या समिति (प्राणिरक्षा करते हुए) से चलते हुए साधुके पद-तलमें कोई सूक्ष्म जन्तु आ जाय व उसका घात हो जाय तो वहां भी उस कारणसे बंध होना चाहिये किन्तु साधुके तो तत्कृत बंध होता नहीं। जैसे कि यदि कदली आदि वृक्षके घातसे यदि धूल चिपटती हो तो दूसरा मल्ल भी तो जो कि जरा भी तैल देहमें नहीं लगाये हुए है, उसी प्रकार व्यायाममें कदली आदि वृक्षका घात कर रहा है। उसके देहमें क्यों नहीं धूल चिपटती ? इससे सिद्ध है कि जैसे कदली घातके कारण धूल नहीं चिपटती इसी प्रकार सचित्त-घातसे कर्मबन्ध नहीं होता।

१७१—बाह्य साधन (मकान आदि) के कारण भी कर्मबंध नहीं होता, क्योंकि यदि बाह्य उपकरण, साधन आदिके कारण कर्म-बंध होता तो सयोगी जिन अथवा तीर्थंकर भगवानके समवसरणमें तो गन्धकुटी आदि कितने वैभव रहते हैं, फिर उनके कर्मबन्ध क्यों नहीं

To report error, please contact vikasnd@gmail.com Version 1

होता ? जैसे कि तलवार आदि शस्त्र हाथमें होनेसे यदि धूल चिपटी होती तो दूसरा मल्ल भी तो जो देहमें तैल नहीं लगाये हुए है उसी प्रकार तलवार हाथमें लेकर व्यायाम करता है उसके धूल क्यों नहीं चिपटती ? इससे सिद्ध है कि जैसे तलवार आदि उपकरणोंके कारण धूल नहीं चिपटती इसी प्रकार बाह्य साधनोंके कारण जीवके कर्मबंध नहीं होता ।

१७२—मन वचन कायके हलन चलनसे भी कर्मबंध नहीं होता क्योंकि यदि योगसे कर्मबंध हो जाता होता तो सयोगिजिन भगवानके भी तो विहार, दिव्यध्वनि आदिके निमित्त योग होता है, उनके कर्म-बंध क्यों न होता ? जैसे कि यदि व्यायामके व्यापारसे यदि धूल चिपटती होती तो दूसरा मल्ल भी तो जो देहमें तैल नहीं लगाये हुए है, उसी प्रकार व्यायामकी चेष्टा करता है उसके धूल क्यों नहीं चिपटती ? इससे सिद्ध है कि जैसे व्यायाम चेष्टाके कारण धूल नहीं चिपटती इसी प्रकार मन, वचन, कायके योग (हलन चलन) के कारण कर्मबंध नहीं होता ।

१७३—कार्माणवर्गणाओंसे व्याप्त लोकमें रहनेके कारण भी कर्मबंध नहीं होता, क्योंकि यदि कार्माणवर्गणाव्याप्त लोकमें रहनेके कारण कर्मबंध हुआ करता तो सिद्ध भगवान भी तो लोकमें हैं उनके कर्मबंध क्यों नहीं हो जाता । जैसे कि धूल भरे अखाड़ेमें जानेसे धूल चिपटती होती तो दूसरा मल्ल भी तो जिसके कि देहमें तैल नहीं लगा है, उसी धूल भरे अखाड़ेमें व्यायाम करता है, उसके धूल क्यों नहीं चिपटती ? इससे सिद्ध है कि जैसे धूल भरे अखाड़ेमें जानेसे धूल नहीं चिपटती इसी प्रकार कार्माणवर्गणाव्याप्त लोकमें रहनेसे कर्म नहीं बंधता ।

१७४—अब केवल जिज्ञासा एक यही रह जाती है कि आखिर कर्मबंध किस कारणसे होता ? जैसे कि दृष्टान्तमें अवशिष्ट जिज्ञासा यही रह जाती कि आखिर उस मल्लके धूल किस कारणसे चिपटी ? समाधान यह है कि जैसे देहमें स्नेह (तैल) लगनेके कारण उस मल्लके वहां धूल चिपट गई, इसी प्रकार स्नेह (रागादिविभाव) होनेके कारण जीवके कर्मबन्ध हो जाता है । यहां इतना विशेष जानना कि मात्र रागसे कर्मबंध साधारण होता है, किन्तु रागमें राग होनेसे अथवा रागादिको उपयोग भूमिमें ले जानेसे कर्मबंध विशेष होता है । कर्म-बंधकी विशेषता संसारका मूल है । उक्त साधारण कर्मबंध संसार-वृद्धिका कारण नहीं, किन्तु अल्पकालमें उसकी भी निर्जरा होकर निर्जरा हो ही जायगी ।

१७५—रागादि परिणामको उपयोग भूमिमें ले आना ही अज्ञान परिणाम है । अज्ञान परिणाम कर्मबन्धका कारण है । जैसे कि कोई जीव यह मानता है कि मैं परजीवोंको मारता हूँ या परजीवों से मैं मारा जाता हूँ, ऐसा विकल्प करना अज्ञान है । यह अज्ञान जिनके है वे मिथ्यादृष्टि हैं, जिनके यह अज्ञान नहीं वे सम्यग्दृष्टि हैं ।

१७६—यह विकल्प अज्ञान क्यों है ? समाधान—चूंकि अन्य द्रव्य किसी अन्य द्रव्यकी परिणति नहीं कर सकता, सो कोई जीव किसी जीवको न मार सकता न कोई किसीसे मारा जाता, इस कारण उक्त विकल्प अज्ञान है । जैसे कोई जीव मरता है तो वह अपने भाव की आयुक्षयसे ही तो मरता है, यदि उसके आयुका क्षय न हो तो मरण संभव ही नहीं है । किसीकी आयुको न तो तुम हर सकते हो और न तुम्हारी आयुको अन्य कोई हर सकता है । फिर जो बात की नहीं जा सकती उस बातका अध्यवसाय करना अज्ञान नहीं तो और क्या है ? अज्ञान ही है ।

१७७—इसी प्रकार जीवके कर्तृत्वका अध्यवसाय भी अज्ञान है । जैसे कि किसीने यह प्रतीति की कि "मैं दूसरोंको जिलाता हूँ या मैं दूसरों के द्वारा जिलाया जाता हूँ" यह भी अज्ञान भाव है । अज्ञान ही बन्धका कारण है ।

१७८—यह विकल्प अज्ञान क्यों है ? उत्तर—अन्य द्रव्य किसी अन्य द्रव्यकी परिणति नहीं करता सो कोई जीव किसी जीवको न जीवन दे सकता और न किसी जीवसे जीवन ले सकता । जैसे कोई

To report error, please contact vikasnd@gmail.com Version 1

जीव जीता है तो वह अपनी ही आयुके उदयसे जीता है, यदि उसके आयुका उदय न हो तो कोई जिला नहीं सकता। आयुकर्म किसीका न तुम दे सकते और न तुम्हारी आयुकर्म अन्य कोई तुम्हें दे सकता। फिर, जो बात की नहीं जा सकती उसका अध्यवसाय करना अज्ञान नहीं तो और क्या है? अज्ञान ही है।

१७६—इसी प्रकार "मैं अमुकको दुःखी करता हूँ, अमुकको सुखी करता हूँ" ये अध्यवसाय भी अज्ञान है, क्योंकि दुःखी सुखी होना जीव के अपने अपने कर्मोदयसे ही संभव है। जैसे कोई जीव सुखी होता है तो वह अपने पूर्वार्जित सातावेदनीयके उदयसे सुखी होता है। सातावेदनीय कोई उसे दे नहीं सकता, यही दुःखकी बात है। असातावेदनीय भी कोई अन्यको दे नहीं सकता।

१८०—चाहे कोई जीव परके प्रति पाप परिणाम करे या कोई पुण्य परिणाम करे उससे परका परिणमन हो नहीं जाता, केवल वे परिणाम पाप या पुण्यबन्धके कारण होते हैं। बन्धका कारण अध्यवसाय भाव (मोह, राग, द्वेषादि) है, बाह्य वस्तु बन्धका कारण नहीं है। हां बन्धके कारणभूत रागादि परिणामका आश्रयभूत बाह्य वस्तु होता है। चरणानुयोगमें जो बाह्य वस्तु का त्याग बताया गया है वह रागके आश्रयभूत पदार्थसे दूर रहनेको बताया जिससे रागके आविर्भावकी सुगमता न रहे, क्योंकि बाह्य वस्तुके आश्रय बिना अध्यवसाय भाव उत्पन्न नहीं होता। जैसे कि युद्धमें यह तो भाव हो सकता है कि मैं वीरजननीके पुत्रका घात करूं, किन्तु यह भाव नहीं हो सकता कि 'मैं बन्ध्याके पुत्रका घात करूं।' तात्पर्य यह है कि रागादिक बाह्य वस्तुके आश्रय बिना नहीं होते, अतः बाह्य वस्तुका प्रतिषेध कराया जाता है।

१८१—कभी ऐसा भी होता है बन्धके कारणका आश्रयभूत जैसी बाह्य बात होती है वह बाह्य बात भी हो जाय तो भी बन्ध नहीं होता इससे और भी सुसिद्ध बात हुई कि बाह्य वस्तु बन्धका कारण नहीं है। जैसे कोई मुनिराज ईर्या समितिसे बिहार कर रहे हैं,

उस समय पद तल अचानक कोई सूक्ष्म जीव उड़कर या किसी तरह मर जावे तो उन मुनिराजको उस हिंसाका बन्ध नहीं होता है। इस कारण जीवके परिणाम अध्यवसानरूप न हो तो बाह्य वस्तु बन्धके हेतुका हेतु भी नहीं होता।

१८२—"मैं अन्य जीवको दुःखी करता हूँ, सुखी करता हूँ" यह सब अध्यवसान मिथ्या है क्योंकि किसी जीवने परिणाम तो किया कि मैं अमुकको दुःखी करता हूँ और उस अमुकके असाताका उदय नहीं है तो वह दुःखी तो नहीं होता। तथा, किसी जीवने परिणाम किया कि मैं अमुकको सुखी करता हूँ और उस अमुकके साताका उदय नहीं है तो सुखी तो नहीं होता। तात्पर्य यह है कि परके विचारनेसे अन्यमें स्वार्थक्रिया तो नहीं हुई। जहां स्वार्थक्रिया नहीं है वह झूठ है। जैसे कोई ऐसा अध्यवसान करे कि मैं आकाशके फूल तोड़ता हूँ तो वह झूठा ही भाव तो है।

१८३—इसी प्रकार कोई जीव सोचे कि मैं पर जीवको बांधता हूँ या छुटाता हूँ तो यह भाव भी मिथ्या है। जैसे किसीने (सीताके जीव प्रतीन्द्रने) यह भाव किया कि मैं अमुकको (रामचन्द्र जीको) बांधता हूँ तो अमुकका (रामचन्द्र जीका) सराग परिणाम नहीं है तो वह बंध तो नहीं सका। इसी तरह छुडानेकी भी बात समझना। कोई जीव सोचे कि मैं अमुकको मुक्त बनादूं और अमुकके वीतराग परिणाम न हो तो अमुक मुक्त तो नहीं हो जायगा। अतः सभी अध्यवसान मिथ्या हैं।

१८४—अज्ञानी जीव निष्फल रागादिभावसे मोहित होकर किसी भी परभावको अपने रूप करता रहता है। जैसे नारकादिभाव होते हैं, नरकगत्यादिकर्मके उदयसे और अज्ञानी जीव मैं नारकी हूं आदि प्रतीति से अपनेको नारकादिरूप करता है। अथवा जैसे हिंसारूप भावके द्वारा अपनेको हिंसक करता है इत्यादि।

१८५—इतना ही नहीं, किन्तु अज्ञानी जीव ज्ञेय पदार्थोंको भी अपनेरूप किया करता है। जैसे कि धर्मास्तिकायको जानता हुआ मानता

के बन्धके छेदनसे ही दूर होंगी। इसी प्रकार कोई जीव यह जाना करे कि अमुक कर्म इस प्रकृतिका है, इतनी स्थिति है, ऐसा अनुभाग है, इस परिणामके निमित्तसे बन्धा है, तो क्या मात्र इतने जाननेके कारण से वह बन्धसे मुक्त हो जायगा ? नहीं। बन्धसे मुक्ति तो बन्धके छेदन से ही होगी याने मोह, राग, द्वेषरूप परिणमन व अनंतज्ञानादि गुणमय आत्मस्वरूपमें प्रज्ञा द्वारा भेद करके निजपरमात्मस्वरूपमें स्थित होने से ही बन्धनसे मुक्ति होगी।

१९०—कोई जीव ऐसा भी सोचते हैं कि बन्धसे छूटनेके चिन्तन, ध्यानसे मुक्ति हो जायगी सो यह भी बात नहीं है। जैसे कि कोई कैदी यह चिन्ता अथवा ध्यान किया करे कि 'मैं बेडीसे छूट जाऊं, मेरी बेड़ी टूट जाय' तो क्या इस चिन्तासे बेड़ी कट जायगी ? नहीं। बेड़ी तो बेड़ीके कटनेसे ही टूटेगी। इस प्रकार कोई चिन्तन किया करे कि कर्म छूट जावे, बन्धन नष्ट हो जावे तो क्या इतने चिन्तन मात्रसे बन्धनसे मुक्ति हो जावेगी ? नहीं। बन्धन तो बन्धके छेदसे ही मिटेगा। भले ही एक प्रकार के इस धर्म-ध्यानसे पुण्यबन्ध हो जाय परन्तु इससे मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता।

१९१—जैसे कोई बन्धनमें बंधा हुआ पुरुष अपने ज्ञान व पुरुषार्थ के बलसे रस्सीका बन्धन है तो उसे तोड़कर, सांकलका बन्धन है तो उसे फोड़कर, काठका बन्धन है तो उसे छुटाकर मुक्त (स्वतन्त्र) हो जाता है। इसी प्रकार जीव तो विभाव, कर्म व शरीरके बन्धनमें बद्ध है सो वह भेदविज्ञान व पुरुषार्थके बलसे विभावोंको छेदकर, कर्मोंको भेदकर, शरीर को छुटाकर मुक्त (स्वतन्त्र) हो जाता है।

१९२—बन्ध-छेदका उत्तर उपाय निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान है। इस परिणमनमें कुछ भी विकल्प (ग्रहण) नहीं है, ऐसा नहीं जानना किन्तु शुद्धात्माका संवेदन (ज्ञानरूप विकल्प) है अर्थात् स्वसंवेदनाकाररूप एक विकल्पसे परिणत है सो इस रूपसे सविकल्प है। यद्यपि यह परिणमन स्वसंवेदन रूपसे सविकल्प है तो भी बाह्यविषयक विकल्प न होनेसे वह निर्विकल्प ही है। जैसे लोकमें विषयानन्दरूप सराग स्वसंवेदन ज्ञान उस विषयक विकल्प होनेसे सविकल्प है, तो भी इतर अन्यविषयक विकल्प न होनेसे लौकिक दृष्टिका निर्विकल्प कहा जाता है। अथवा दोनों जगह अन्य विषयक सूक्ष्म विकल्प बिना चाहे हैं उनकी मुख्यता न होनेसे निर्विकल्प हैं।

१९३—बन्धछेदका मूल उपाय भेदविज्ञानरूपी छैनी है। जैसे हथौड़ेके प्रयोगकी प्रेरणासे छैनी द्वारा अनेकके संयोगसे हुए पिण्डके दो टूक कर दिये जाते हैं, इसी प्रकार ज्ञानभावनाकी प्रेरणासे भेदविज्ञानके द्वारा स्वभाव विभावके सम्बन्धको पृथक् कर दिया जाता है।

१९४—यहां भेदविज्ञान यह होता है कि आत्मा तो चैतन्यस्वरूप है जो कि त्रिकाल है व बन्ध मिथ्यात्वरागादिक विभावरूप है जो त्रिकाल नहीं है अतः ये भिन्न हैं। रागादिका जो चैतन्यके साथ उठना है याने चेतनमें झलकना है वह चेत्यचेतक भावके कारण हैं, एक स्वरूप होनेके कारण नहीं है सो रागादिका झलकना तो और यही सिद्ध करता है कि आत्मा चेतन है, उसका स्वरूप चेतना है। जैसे कि दीपकके होनेपर घटादिक पदार्थ प्रकाशित होते हैं सो यह प्रकाश्यप्रकाशकताके कारण हैं, एक पदार्थके कारण नहीं। यहां भी घटादि का प्रकाशित होना यही सिद्ध करता है कि प्रदीप प्रकाशकता स्वभाव वाला है।

१९५—इस आत्माका ग्रहण प्रज्ञा द्वारा करना चाहिये। पहिले प्रज्ञासे भेद किया था कि मैं चैतन्यस्वभाव हूँ व रागादि बन्धस्वभाव हैं। अब चैतन्य स्वभावको ग्रहण करना कि मैं चेतने वाला हूं, चेतता हुआ चेतता हूँ, चेतने वालेको चेतता हूँ, चेतयमानके द्वारा चेतता हूँ, चेतयमान के लिये चेतता हूँ, चेतयमानसे चेतता हूँ, चेतयमानमें चेतता हूँ, फिर निर्विकल्प स्वरूप अनुभव करके इन विकल्पोंका भी निषेध करके ऐसा अनुभव करे कि मैं सर्व विशुद्ध चैतन्यमात्र हूँ। इस प्रकार जो निज तत्त्व का ग्रहण करता है वह बन्धनको प्राप्त नहीं होता और जो निज तत्त्वकी दृष्टिसे च्युत होकर परद्रव्यका ग्रहण याने "ममेदं,

To report error, please contact vikasnd@gmail.com
Version 1

अहमिदं वा" विकल्प करता है वह बन्धनको प्राप्त होता है क्योंकि परद्रव्यका ग्रहण करनेसे वह अध्यात्म चौर है। जैसे जो चोरी करता है याने परकी चीजको अपनी बनाता है वह शंकित रहता है व बंधता है, इसी प्रकार जो परपदार्थ को अपना मानता है याने ग्रहण करता है, वह भी शङ्कित होता है व बंधता है।

१६६—तथा जैसे जो परद्रव्यका ग्रहण करता है वह चौर दण्ड पाकर शुद्ध होता है पश्चात् निःशङ्क हो जाता है। इसी प्रकार परद्रव्यका राग आदि रूप ग्रहण करता है वह प्रतिक्रमणादिरूप दण्ड पाकर शुद्ध होता है पश्चात् निःशङ्क शुद्धात्माराधनामें लग जाता है।

१६७—और, जो परद्रव्यका ग्रहण वाञ्छा भी नहीं करते हैं वे प्रथमतः एवं दण्डकी सम्भावना बिना निःशङ्क रहते हैं और अपनी प्रवृत्ति में, कृतिमें रत रहते हैं, इसी प्रकार जो रागादि अपराध नहीं करते वे प्रतिक्रमणादि दण्ड पाये बिना ही निःशङ्क रहते हैं और निर्दोष निजपरमात्मतत्त्वकी आराधना में रत रहते हैं।

१६८—साधुजन अज्ञानियों जैसे होने वाले अप्रतिक्रमणसे बचने के लिये प्रतिक्रमण करते हैं और प्रतिक्रमणकी प्रवृत्तिसे भी परे होनेके लिये सर्व विशुद्ध अप्रतिक्रमण याने मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहने रूप निर्विकल्प परिणति करते हैं, इसको तृतीय भूमिका कहते हैं। लोकमें जैसे विषकुम्भ उसे कहा जाता है जिसमें ऐसा विष रहता है कि जिसके पान करनेसे जीवकी मृत्यु हो। इसी प्रकार अध्यात्ममें अज्ञानिजन-संभव अप्रतिक्रमण तो विषकुम्भ है ही, किन्तु प्रतिक्रमणको भी एक विकल्प अंश होनेसे विषकुम्भ कहा है। यह पूर्व अप्रतिक्रमणकी अपेक्षा अमृतकुम्भ कहा जा सकता है सो यदि तृतीय भूमिकाके अप्रति-क्रमणका स्पर्श हो तो।

१६६—लोकमें जैसे अमृतकुम्भ उसे कहा जाता है जिस अमृत के पानसे सर्व प्रकार हित ही हित हो, ऐसे अमृतपूर्ण कुम्भको। इसी प्रकार सर्वथा अध्यात्ममें सर्वथा अमृतकुम्भ तो वह ही है जिसके

आश्रयसे अथवा जिस आश्रयमें सर्व प्रकार हित ही हित है, विकल्प अंशका नाम ही नहीं है। ऐसा सर्वथा अमृतकुम्भ तो तृतीय भूमिकाका अप्रतिक्रमण है। यह तृतीयभूमि शुद्धात्मसिद्धि रूप है, निर्विकल्प निश्चयरत्नत्रय स्वरूप है। यह पद बन्धरहित है व स्वयं मोक्ष स्वरूप है।

इति मोक्ष अधिकार समाप्त

—०—

सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार

२००—जिस स्वरूपसे आत्माके देखे जानेपर व जिसका आश्रय करनेसे निर्मल पर्याय प्रकट होती है अर्थात् मोक्ष मार्ग व मोक्ष प्राप्त होता है वह आत्मा अन्य सर्वसे न्यारा ज्ञानमात्र सर्वविशुद्ध है। उसकी महिमा टङ्कोत्कीर्णवत् प्रकट होती है। जैसे कोई प्रतिमा पाषाणसे प्रकट होती है वह किसी पदार्थसे बनाई नहीं जाती, जो प्रकट हुई है वह चीज उस पाषाणमें थी। अगल बगलके पत्थर खण्ड दूर हुए कि वह प्रकट हो गई। इसी प्रकार समयसार जो प्रकट होता है अथवा शुद्ध आत्मा जो प्रकट होता है वह किन्हीं पदार्थसे नहीं आता वह तो सदा अन्तः प्रकाशमान है, राग, द्वेष आदि अज्ञान भाव अंश दूर हुए कि वह प्रकट हो गया।

२०१—तथा जैसे आत्मा किन्हीं अन्य पदार्थोंसे नहीं बनता है, प्रकट नहीं होता वैसे ही अन्य कोई पदार्थ आत्मासे नहीं बनते, प्रकट नहीं होते। इसका कारण यह है कि सर्व द्रव्योंकी परिणतियोंका खुदके द्रव्यमें ही तादात्म्य होता है, जैसे कि सुवर्णको कटक, कुण्डल आदि जो जो भी परिणतियां होती हैं उनका तादात्म्य सुवर्णमें ही तो होता है, सुनार या पहिनने वालेमें तो नहीं होता। जब परिणतियां

To report error, please contact vikasnd@gmail.com Version 1

स्वयं स्वयंकी स्वयं स्वयंमें होतीं तब एक पदार्थका दूसरे पदार्थके साथ कर्ताकर्मभाव कैसा। अतः आत्मा अजीवका अकर्ता है, कोई भी अजीव जीवका कर्म नहीं है। और जैसे आत्मा परका कर्ता नहीं है, वैसे ही परका मोचक (छोड़ने वाला या छुड़ाने वाला) भी नहीं है। इस तरह परम शुद्ध (सर्व विशुद्ध) निश्चयनयसे जीव न बन्धका कर्ता है और न मोक्षका कर्ता है अथवा जीव बन्ध मोक्ष की रचनासे रहित है।

२०२—फिर जीवका कर्म प्रकृतियोंसे बन्ध क्यों हुआ ? इसका समाधान यह है कि यह सब अज्ञानकी महिमा है। जो कुछ यह सब विभावरूप बात उत्पन्न हो रही है वह निमित्तनैमित्तिकताका परिणाम है। जब स्व परका यथार्थ स्वलक्षणका ज्ञान नहीं होता तब जीवको पर व स्वमें एकत्वका अभ्यास होता है सो कर्ता बनकर यह जीव कर्मोदयका निमित्त पाकर नाना रूपोंमें उत्पन्न होता है, नष्ट होता है और जीव इस अज्ञान भावको निमित्त पाकर कर्म भी नाना रूपोंमें आता है। इस प्रकार कर्ताकर्मभाव तो नहीं है किन्तु परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है। इसी कारण कर्ताकर्म व्यवहार है व भोक्ता-भोग्य व्यवहार भी है। अज्ञान दूर हुआ अर्थात् स्व परका यथार्थ यथार्थ स्वलक्षण ज्ञात हुआ कि यह बन्ध दूर हुआ, भोग भी दूर हुआ अज्ञानी जीव ही कर्मफलभोक्ता होता है। जैसे सर्पको गुड़ व दूध भी पिलाया जावे तो भी वे निर्विष नहीं होते। इसी तरह जब तक अज्ञान भाव है यह अज्ञानी जीव शास्त्रोंका भी अध्ययन करले, किन्तु प्रकृति-स्वभाव (रागादिभाव) को नहीं छोड़ता है। प्रकृतिस्वभावमें स्थित होकर अज्ञानी जीव कर्मफलको भोगता है।

२०३—ज्ञानी जीव न तो कर्मको करता है और न कर्मको भोगता है वह तो ज्ञान-बलके कारण स्वमें तृप्त रहता है व कर्मबन्ध, कर्मोदय, कर्मफल, कर्मनिर्जरा व मोक्षको जानता है। परद्रव्यको अहं रूपसे अनुभव करनेमें अशक्त होनेसे ज्ञानी कर्मका कर्ता भोक्ता नहीं होता है। जैसे दृष्टि (नेत्र) अग्निको देखता है किन्तु अग्निका कर्ता या भोक्ता नहीं है। यदि दृष्टि अग्निको करने लगे तो अग्निके देखनेसे अग्नि बल उठना चाहिये या दृष्टि अग्निको भोगने लगे तो अग्निके देखनेसे नेत्र संतप्त हो जाना चाहिये। सो तो होता नहीं है। अतः दृष्टि न तो अग्निका कर्ता और न अग्निका भोक्ता है, केवल द्रष्टा है। इसी प्रकार ज्ञान भी केवल देखनदार (जाननदार) स्वभाव वाला होनेके कारण कर्मोदय आदिको मात्र जानता है, करता व भोगता नहीं है।

२०४—यद्यपि रागादिक आत्माके परिणमन है तो भी आत्मा स्वभावसे रागादिकका कर्ता नहीं है, क्योंकि आत्मा यदि इसका कर्ता हो जावे तो आत्मा तो नित्य है सो वह रागादिका नित्यकर्ता हो जायगा फिर आत्माका मोक्ष कैसे हो सकेगा ? नहीं हो सकेगा। जैसे कि जो लोग यह मानते कि एक कोई विष्णु मनुष्य देव आदि बनाता है व रागादि कार्य कराता है तो उनकी मान्यतामें मोक्ष कैसे हो सकता? नहीं हो सकता, क्योंकि जीवका परिणमन ईश्वराधीन है ईश्वरकी मर्जी हो तो सिद्धि हो सो उसकी मर्जी होती ठीक तो पहिलेसे ही दुःखी क्यों बनाया। अतः यह निश्चय करना कि आत्मा स्वभावसे रागादिका कर्ता भी नहीं है। रागादि परिणमन तो पुद्गल कर्मोदय को निमित्त पाकर आत्माके विकार रूप हैं। तथा निश्चयसे तो यही बात है कि परद्रव्यका आत्माके साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है तब कर्ता-कर्मका भी सम्बन्ध नहीं और इसी कारण आत्मा रागादि व कर्मादिका कर्ता भी नहीं है।

२०५—केवल व्यवहारनयसे "पर द्रव्य मेरा है" ऐसा कहा जाता है। निश्चयसे तो परमाणुमात्र भी कुछ मेरा नहीं है। जैसे कोई मनुष्य कहे कि ग्राम मेरा है, नगर मेरा है तो यह मोहमें ही कहा जा सकता है या व्यवहारनयसे कहा जा सकता है। निश्चयसे तो ग्राम या नगर उसका नहीं है। यदि कोई व्यवहार-हठी होकर मेरा ग्राम है ऐसा देखेगा तो वह मत्त ही है। इसी तरह यदि कोई ज्ञानी व्यवहार-विमूढ़ होकर परद्रव्यको अपना बनावे तो वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

To report error, please contact vikasnd@gmail.com
Version 1

२०६—यहां यह जिज्ञासा उत्पन्न होना प्राकृतिक है कि मिथ्यात्व परिणाम किसका कार्य है ? मिथ्यात्व परिणाम अचेतन प्रकृतिका तो कार्य है नहीं, क्योंकि मिथ्यात्व प्रकृति तो अचेतन है, अचेतनमें चैतन्य जैसे भाव नहीं हो सकते। मिथ्यात्व भाव जीव व प्रकृति दोनोंका मिलकर भी कार्य नहीं है क्योंकि यदि जीव व अचेतन प्रकृति दोनोंका कार्य मिथ्यात्व होता है, मिथ्यात्व परिणामका भोग अचेतन प्रकृतिको करना पड़ता, जैसे कि जीवको करना पड़ता। बिना किया हुआ तो मिथ्यात्व है नहीं, क्योंकि मिथ्यात्व भी तो एक परिणमन है, कार्य है। समाधान इसका यही आता है कि मिथ्यात्व प्रकृति का उदय तो वहां निमित्त है और कार्य है जीवका। यदि कहा जाय कि मिथ्यात्व प्रकृतिका ही कार्य है मिथ्यात्व परिणाम तथा जागना, सोना, बैठना, कषाय, ज्ञान, अज्ञान सभी कर्म प्रकृतिका कार्य है तो फिर यह बताओ कि क्या जीव अपरिणामी है ? यदि जीव अपरिणामी है तो फिर "जीव भी कुछ करता है" यह अर्षवचन मिथ्या हो जायगा। यदि कहो कि कर्म तो अज्ञानादि भावको करता है और जीव अपनेको द्रव्यरूप करता है, तो जीव तो द्रव्यरूपसे नित्य है सो जो नित्य है वह कार्य कैसे हो सकता क्योंकि नित्यपने व कार्यपनेका परस्पर विरोध है ? जीव तो द्रव्यरूपसे अवस्थित असंख्यातप्रदेशी है सो इस दृष्टिमें भी कार्य कैसे हो सकता। हां जैसे पुद्गल स्कन्धोंमें कुछ प्रदेशोंका निकल जाना कुछ अन्य प्रदेशोंका मिल जाना हुआ करता है ऐसा जीवमें हो जाता तो कार्य कह दिया जाता, किन्तु जीव तो अखण्ड है वहां कुछ प्रदेशोंका बिछुड़ना कुछका मिलना संभव ही नहीं। स्कन्ध तो द्रव्य नहीं वह तो पर्याय है। पर्याय-दृष्टिसे पुद्गलमें इसका व्यवहार है।

२०७—यदि कहो कि जीवमें प्रदेशोंका निकलना व आना तो नहीं होता किन्तु संकोच विस्तार तो होता है इससे जीवका कार्य कुछ न कुछ द्रव्य रूपमें भी सिद्ध हो जायगा। सो यह भी ठीक नहीं है

क्योंकि कार्य याने नवीन बात तो तब कहलावे जब कि नियत निज-विस्तार (लोक-परिणाम असंख्यात प्रदेश) से हीन या अधिक संकोच विस्तार किया जा सके। जैसे कि एक चमड़ेका टुकड़ा है वह चाहे सूखनेपर संकुचित हो जाये और गीला होने पर विस्तृत हो जाये किन्तु उसका जितना परिमाण है उससे कम या अधिक तो नहीं होता। इस प्रकार जीव कर्ता है यह बात द्रव्यरूपमें नहीं बनती, यह कार्यकी बात तो मिथ्यात्वादि परिणमन जीवका हो जाता है यह मानकर ही बनेगा।

२०८—अब यह बात सुसिद्ध है कि जीव द्रव्यरूपसे तो नित्य है और पर्यायरूपसे अनित्य है तभी ये दोनों बातें हैं कि जो करता है वही भोगता है अथवा करता और है व भोगता और है। इनमें किसी एक पक्षका एकान्त नहीं बन सकता। यदि यह माना जाय सर्वथा कि वही कर्ता वही भोगता तो पर्यायमें अन्य हुए बिना भोगना कैसे बन सकता है। यदि यह सर्वथा माना जाय कि करने वाला अन्य है व भोगने वाला अन्य है तो इसमें मात्र पर्यायकी दृष्टि रही। पर्यायमात्र ही आत्मा माना। सो जैसे धागा रहित मात्र मुक्ता देखने वाले जैसे हारको छोड़ देते हैं इसी प्रकार चैतन्यअन्वयगुणसे रहित मात्र पर्याय देखने वालोंने आत्मा ही छोड़ दिया और तब इस एकान्तमें न तो आत्मा रहा और आत्माके अभावमें पर्याय भी न रहा। यह अनिष्टा-पत्ति आती है। अतः यह सिद्धान्त ही युक्त है कि कथंचित् वही आत्मा करता है व वही भोगता है अथवा कथंचित करने वाला और है व भोगने वाला और है। जैसे मनुष्यने तप किया, देव आयु बांधी और मनुष्य-मरणके बाद देवने उस आयु व पुण्यको भोगा। तो करने वाला मनुष्य है व भोगने वाला देव है, परन्तु जीव तो दोनों भवोंमें वही है अतः उस ही ने किया व उस ही ने भोगा। ये दोनों ही बातें सिद्ध हो जाती हैं।

२०९—अथवा कर्ता भोक्ता होओ व न होओ, इसकी चर्चा

छोडकर मात्र शुद्ध वस्तुका चिन्तन करो तो वहां तक शुद्ध चेतना मात्र ही चकासमान है। जसे—सूतमें पोई हुई मणिमालिकाको केवल हार-रूपमें देखो तो वहां केवल वही एक हार चकासमान रहता है।

२१०—निश्चयसे कर्ता व कर्म एक ही वस्तु होती है, केवल व्यवहारसे ही ऐसा देखा जाता है कि कर्ता अन्य है, कर्म अन्य है। जैसे व्यवहारदृष्टिसे कहा जाता है कि सुनारने सोनेका कुण्डल बनाया, हथौड़े आदि करणों के द्वारा बनाया, हथौड़े आदि करणोंको ग्रहण किया, इनाममें मिले हुए ग्राम आदिक कुण्डलकर्मफलको भोगा। यहाँ निश्चय दृष्टिसे, स्वरूपदृष्टिसे देखो कि क्या सुनार व हथौड़ा या सुनार व सोना या सुनार व गांव क्या सब एकरूप हो गये? नहीं हुए। इस कारण निमित्तनैमित्तिक भाव मात्रके हेतु अन्य अन्य पदार्थों में कर्ता कर्म व भोक्ता भोग्यका व्यवहार हुआ। इसी प्रकार व्यवहार-दृष्टिसे कहा जाता है कि आत्माने पुण्य पाप कर्म किया, काय वचन मनके द्वारा किया, काय वचन मनको ग्रहण किया, सुख दुःख आदि कर्मफलको भोगा। यहां निश्चयदृष्टि, स्वरूपदृष्टिसे देखो कि क्या जीव व पुण्य पापकर्म या जीव व काय वचन मन या जीव व सुख दुःख आदि कर्मप्रकृति क्या ये एक रूप हो गये? नहीं हुए। इस कारण मात्र निमित्तनैमित्तिकभावसे ही अन्यका अन्यमें कर्ता कर्म भोक्ता भोग्यका व्यवहार हुआ ऐसा समझना।

२११—निश्चयनयसे तो जैसे वहां सुनारने अपनी ही चेष्टारूप कर्म किया है और अपनी ही चेष्टाका परिणाम क्लेशरूप भोगा। इसी प्रकार निश्चयनयसे तो जीवने अपनी चेष्टारूप आत्मपरिणाम किया व दुःखवेदनरूप निज चेष्टारूप कर्मके फलको भोगा। अतः एक द्रव्यमें ही परिणाम परिणामीभाव होनेसे आत्मा कर्ता, आत्मा कर्म, आत्मा भोक्ता व आत्मा भोग्य हुआ।

२१२—जब निश्चयसे कर्ता कर्म भोक्ता भोग्य वही द्रव्य होता है अन्य अन्य नहीं, तब कोई एक वस्तु अन्य किसी वस्तुका कुछ भी नहीं है। केवल व्यवहारदृष्टिसे अन्यका अन्य कर्ता भोक्ता हैं अतः

व्यवहारदृष्टि से अन्यका अन्य कहा जाता है। जैसे खड़िया एक सफेद वर्णवाला स्कन्ध है उसकी व्यवहारसे सफेद की गई भींट कही जाती है। यहां विचार करें कि क्या खड़िया भींटकी है या नहीं। यदि खड़िया भींटकी है तो जो जिसका होता वह उसमें तन्मय होता है जैसे कि आत्माका ज्ञान, इस न्यायसे खड़िया भींटकी होती हुई भींट ही हो गई। किन्तु कोई द्रव्य मिट जाय ऐसा तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यरूप परिणम ही नहीं सकता। इस तरह खड़िया भींटकी तो हुई नहीं। तब खड़िया किसकी है? खड़ियाकी खड़िया है। वह दूसरी खड़िया क्या है जिसकी यह खड़िया हुई? खड़ियाकी अन्य दूसरी खड़िया कुछ है ही नहीं याने दूसरी किसी खड़ियाका अस्तित्व नहीं, किन्तु एक ही खड़ियामें प्रश्नवशात् स्व-स्वामी अंशकी कल्पना की है वही व्यवहारसे अन्य अन्य है। इस स्वस्वामी अंशके व्यवहारसे क्या मिल जायगा? कुछ नहीं। तब निष्कर्ष यह निकला कि खड़िया किसीकी भी नहीं है, खड़िया खड़िया ही है ऐसा जानो। इसी प्रकार जीव ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावमय एक द्रव्य है उसका व्यवहारसे जाना गया पुद्गलादिक कहा जाता है। यहां विचार करें कि ज्ञायक आत्मा क्या ज्ञेय पुद्गलादिकका हो जाता है या नहीं? यदि पुद्गलादिक (ज्ञेय) का आत्मा (ज्ञायक) है तो जो जिसका होता है वह उसमें तन्मय होता है। जैसे कि आत्माका ज्ञान, सो इस न्यायसे जीव पुद्गलादिकका होता हुआ पुद्गलादिकमय ही हो जायगा। किन्तु कोई द्रव्य (जैसे यहां जीव) मिट जाय ऐसा तो है ही नहीं क्योंकि कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यरूप तो परिणम ही नहीं सकता। इस तरह आत्मा (ज्ञायक) पुद्गलादिकका (ज्ञेयका) हुआ नहीं। तब ज्ञायक आत्मा किसका है? ज्ञायक (आत्मा) ज्ञायकका ही है। वह अन्य ज्ञायक कौन है जिस ज्ञायक (आत्मा) का यह ज्ञायक (आत्मा) बने? कोई नहीं, किन्तु कल्पना किये गये स्व-स्वामी अंश ही अन्य अन्य है। इस स्व-स्वामी अंशके व्यवहारसे क्या मिल

जायगा ? कुछ नहीं । तब निष्कर्ष यह निकला कि ज्ञायक किसीका ज्ञायक नहीं है किन्तु ज्ञायक ज्ञायक ही है ऐसा जानो ।

२१३—उक्त प्रकारसे जैसे खड़िया भींटकी नहीं, किन्तु खड़िया खड़ियाकी है । अन्य कोई दूसरी वह खड़िया नहीं जिसकी खड़िया यह हो, सो यह ही सिद्ध है कि खड़िया खड़िया ही है । इसी प्रकार दर्शक आत्मा किसी अन्य पदार्थका नहीं है किन्तु दर्शक (आत्मा) दर्शकका ही है, वह अन्य कोई दर्शक नहीं जिस दर्शकका यह दर्शक हो, सो यह ही सिद्ध है कि दर्शक दर्शक ही है ।

२१४—इस ही प्रकार जैसे खड़िया याने श्वेतयित्री भींटकी नहीं है । वैसे ही अपोहक यह आत्मा किसी अन्य पदार्थका नहीं है । अपोहक (आत्मा) अपोहकका ही है । इस तरह यह सिद्ध हुआ कि जानना, देखना व अन्य सबसे परे रहना आत्माका ही परिणमन है, इससे कहीं आत्मा परका नहीं हो जाता है ।

२१५—जैसे यद्यपि खड़िया भींटकी नहीं है क्योंकि खड़िया भींट के स्वभावसे परिणमती नहीं व खड़िया अपने स्वभावसे भींटको परिणमाती नहीं, तो भी भींटका निमित्त पाकर खड़िया अपने इस प्रकारके विस्तृत श्वेतपनेके स्वभावसे परिणम गई और खड़ियाके निमित्तसे भींट अपने स्वभावके परिणामसे दिखनेमें श्वेतरूप से बन रही है । इस निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धके कारण संयोग दृष्टिसे ऐसा कहा जाता है कि खड़ियाने भींटको सफेद की । यह व्यवहारका वर्णन है । इसी प्रकार यद्यपि ज्ञायक परपदार्थका नहीं है, क्योंकि ज्ञायक आत्मापर पदार्थके स्वभाव से परिणमता नहीं है और परपदार्थको ज्ञायक अपने स्वभावसे परिणमाता नहीं है, तो भी पुद्गलादिक परद्रव्यके निमित्तसे याने जाननका विषय पुद्गलादिक होनेसे आत्मा (ज्ञायक) अपने ही ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावके परिणामसे परिणम जाता है और पुद्गलादिक परद्रव्य ज्ञायक आत्माके जानन परिणामके निमित्तसे अपने ही स्वभावसे ज्ञेयरूप होते हैं । अतः इस निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धके कारण संयोग दृष्टिमें यह प्रतीत होता है कि

ज्ञायक आत्मा अपने स्वभावसे पुद्गलादिको जानता है । यह मात्र व्यवहारका वर्णन है ।

२१६—जैसे कि यद्यपि श्वेतयित्री खड़िया श्वेत्य भींटकी कुछ नहीं है तो भी इनमें परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव होनेसे श्वेतयित्री खड़िया भींट की है ऐसा व्यवहार किया जाता है । इसी प्रकार यद्यपि दर्शक यह आत्मा पुद्गलादिक दृश्य पदार्थोंका कुछ नहीं है तो भी दृश्य पदार्थोंका विषय करता दर्शक आत्मा, देखने रूप क्रियासे परिणमता है और दर्शक आत्माके विषय होनेसे पदार्थ दृश्य कहलाते हैं । अतः यह व्यवहार किया जाता है कि दर्शक (आत्मा) दृश्य (पदार्थों) का है । यह मात्र व्यवहारका व्याख्यान है ।

२१७—इसी प्रकार जैसे यद्यपि खड़िया श्वेतयित्री श्वेत्य भींट की नहीं है तो भी इनमें परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध होनेसे खड़िया श्वेतयित्री श्वेत्य भींटकी है ऐसा व्यवहार किया जाता है । इसी तरह यद्यपि अपोहक (त्याग करने वाला) आत्मा अपोह्य (त्याज्य) पदार्थोंका नहीं है तो जिन पदार्थों विषयक विकल्पसे यह आत्मा अलग हुआ है अथवा स्वभावतः अन्य पदार्थोंसे परे रहता है, उन सब पदार्थोंका व आत्माका अपोह्य अपोहक व्यवहाररूप सम्बन्ध के कारण ऐसा व्यवहार में कहा जाता है कि अपोहक (आत्मा) अपोह्य (पदार्थों) का है ।

इस प्रकार उक्त प्रकारोंसे आत्माके दर्शन, ज्ञान, चारित्र शक्ति की परिणतियोंको निश्चय व व्यवहार दो रूपोंमें देखनेका प्रकार है । इसी तरह अन्य पर्यायोंमें भी लगा लेना चाहिये ।

२१८—जैसे कि लोकमें देखा जाता है कि चांदनी छिटकती है, किन्तु चांदनीकी भूमि नहीं होती । इसी प्रकार ज्ञान ज्ञेयको जानता है यह ज्ञानके स्वभावका उदय है इससे कहीं ज्ञानका ज्ञेय या ज्ञेयका ज्ञान बन जाय सो नहीं हो सकता । इससे यह शिक्षा लेनी चाहिये कि अन्य द्रव्योंकी ओर आकृष्ट होकर निज तत्त्वके उपयोगसे क्यों च्युतहुआ जाय तथा यही भावना करनी चाहिये कि ज्ञान तो

To report error, please contact vikasnd@gmail.com Version 1

ज्ञान ही रहे व ज्ञेय ज्ञेय ही रहे, क्योंकि जब तक ज्ञान ज्ञेयकी स्वतन्त्रताके भानरूप ज्ञानभानुका उदय नहीं होता तब तक राग द्वेषकी वृत्ति चलती है।

२१६—आत्माका दर्शन, ज्ञान, चारित्र आत्मामें ही है न तो विषयोंमें है, न शरीरमें है और न कर्मोंमें है, अतः इस अचेतन पदार्थों के संग्रह विग्रह से आत्माका सुधार बिगाड़ नहीं होता, फिर क्यों अन्य पदार्थों की ओर आकर्षण हो। यदि आत्माका गुण इन अचेतनोंमें होता तो इन अचेतनोंके घातसे आत्माका अथवा दर्शन ज्ञान चारित्र का घात हो जाता व दर्शन ज्ञान चारित्रके घात होनेपर पुद्गल द्रव्य का घात हो जाता। किन्तु, ऐसा है तो नहीं। इससे यह सिद्ध है कि दर्शन, ज्ञान, चारित्र अचेतनोंमें नहीं है। जैसे कि दीपक दीपघटमें नहीं है। यदि दीपक दीपघट में होता तो दीपकके बुझ जानेपर दीपघट फूट जाता व दीपघटके दरकने पर दीपक दरक जाता। किन्तु ऐसा है तो नहीं। इससे यह सिद्ध है कि दीप दीपघटमें नहीं है। इसी प्रकार राग द्वेष भी जो कि चारित्र गुणके विकार हैं, अचेतन पदार्थों में नहीं पाये जाते हैं। साथ ही यह भी बात है कि राग द्वेष सम्यग्दृष्टिके (या सम्यक्त्व परिणमनके) होते नहीं हैं, तो इस प्रकार यही प्रतीत हुआ कि सम्यग्दृष्टिके राग द्वेष नहीं होते।

२२०—राग द्वेषादिकोंको कर्म अथवा आश्रयभूत अन्य पदार्थ उत्पन्न कर ही नहीं सकते। क्योंकि, यद्यपि राग द्वेषादि आत्माके स्वभाव नहीं सो स्वयं नहीं होते तथापि कर्मदशाका निमित्त पाकर आत्माके ही गुणोंका तो विकार बनता है सो जीवके हुआ करते। कर्मोदय तो निमित्त मात्र है। सभी द्रव्य अपनी अपनी शक्तियोंके परिणमनसे उत्पन्न होते हैं। अन्य द्रव्य किसी अन्य द्रव्यके गुणोंका उत्पाद नहीं कर सकता। जैसे कि मिट्टी जो कुम्भभावसे याने घड़ेके परिणमनसे उत्पन्न होती है अर्थात् परिणमती है। वह मिट्टीके स्वभाव से ही याने मिट्टी की शक्तिके परिणमनसे ही उत्पन्न होती है, कुम्भकारके स्वभावसे उत्पन्न नहीं होती है, क्योंकि यदि वह मिट्टी कुम्भकारके स्वभावसे उत्पन्न होती तो कुम्हार पुरुषके शरीरके आकार घड़ा बनता सो ऐसा तो है नहीं और मिट्टीके गुण धर्म घड़ेमें पाये जाते हैं, अतः कुम्हारके स्वभावको न छूती हुई मिट्टी ही कुम्भभावसे उत्पन्न होती है यही सिद्ध है। इसी प्रकार सभी द्रव्य अपने अपने परिणमनसे पर्यायरूपसे उत्पन्न होते हैं, निमित्तभूत अन्य द्रव्यके स्वभावसे उत्पन्न नहीं होते। आत्मा भी अपने गुण-परिणमनसे पर्यायरूप से उत्पन्न होता है अर्थात् रागादि पर्यायरूपमें परिणमता है वह निमित्तभूत अन्य द्रव्यके स्वभावसे उत्पन्न नहीं होता। अतः जब रागादिक भावों के उत्पादक परद्रव्य हैं ही नहीं तब किस प्रकार द्रव्यकी ओर आकर्षित होना या क्रोध करना, किसीकी ओर नहीं।

२२१—निन्दा या स्तुतिके वचन भी क्या हैं? विशिष्ट पुद्गलवर्गणा (भाषावर्गणा) के परिणमन हैं। ये शब्द जीवको जबर्दस्ती नहीं करते हैं कि तुम हमको सुनो और न जीव अपने स्थानसे च्युत होकर उनको जाननेके लिये जाता है। इसका कारण यह है कि किसी भी वस्तुका भाव किसी अन्य द्रव्यके द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता। जैसे कि प्रकाशमान दीपकको निमित्त पाकर प्रकाशित हुए घट पटादिक पदार्थोंने न तो दीपकको जबर्दस्ती की कि तुम हमको प्रकाशित करो और न दीपक अपने स्थानसे च्युत होकर घट पटादिक पदार्थोंको प्रकाशित करनेके लिये जाता है। इसका भी कारण यह है कि परपदार्थ अन्य परपदार्थको उत्पन्न करनेमें असमर्थ है।

२२२—इसी प्रकार जैसे कि दीपकको घटादि पदार्थ जबर्दस्ती नहीं करते कि हमें प्रकाशित करो और न दीपक अपने स्थानसे च्युत होकर पदार्थोंको प्रकाशित करनेके लिये जाता है। उसी प्रकार रूप, रस, गंध, स्पर्श आत्मापर जबर्दस्ती नहीं करते कि तुम हमें देखो, स्वादो, सूंघो, छुवो और न आत्मा अपने स्थानसे च्युत होकर रूपादि का विषय करनेके लिये जाता है। इसी तरह गुण, द्रव्य आदि भी आत्मापर जबर्दस्ती करते हैं कि तुम हमें जानो और न आत्मा अपने

To report error, please contact vikasnd@gmail.com Version 1

स्थानसे च्युत होकर गुण, द्रव्यादिको जाननेके लिये जाता है।

२२३—जब ऐसा स्वरूप है तब जैसे घट पटादि पदार्थोंके प्रकाशित हो जानेसे दीपकमें विकार पैदा नहीं होता कि कहीं काले घटके प्रकाशित हो जानेसे दीपक काला हो जाय या तिखूंटी तिपाई के प्रकाशित हो जानेसे दीपक तिखूंटा हो जाय आदि। इसी प्रकार मनोज्ञ या अमनोज्ञ विषयोंके ज्ञेय हो जानेसे आत्माको ज्ञानको) विकृत नहीं हो जाना चाहिये कि कुछ विषयोंके ज्ञेय होनेसे आत्मामें हर्ष उत्पन्न हो और कुछ विषयोंके ज्ञेय होने से आत्मामें विषाद उत्पन्न हो आदि। तो भी राग द्वेष होते हैं, इसका कारण अज्ञान ही कहा जा सकता है।

२२४—चेतनाके विकास तीन प्रकारसे होते हैं—(१) ज्ञान-चेतना, (२) कर्मचेतना, (३) कर्मफलचेतना। ज्ञानके अतिरिक्त अन्य तरङ्गोंको करने व भोगने रूप न चेते किन्तु स्वभावको ही चेते वह तो ज्ञानचेतना है और ज्ञानसे अतिरिक्त अन्य कर्मोंको मैं करता हूँ, ऐसा चेते वह कर्मचेतना तथा कर्मोंके फलोंको मैं भोगता हूँ, ऐसा चेते वह कर्मफलचेतना है। ज्ञानी जीव कर्मचेतनाका बहिष्कार करता है। यदि कोई क्रिया हो तो उसका ज्ञाता रहता है। ज्ञानी जीव कर्मफलके भोगने का बहिष्कार करता है, यदि कोई कर्मफल आवे तो उसका ज्ञाता रहता है। ज्ञानी जीवके तब विचार उठे तो ऐसा उठता है कि ये कर्मफल मेरे भोगे बिना ही गल जावो। जैसे विषवृक्षके फलोंके खानेका परिणाम घातक है, वैसे ही इन कर्मोंके फलोंके भोगका परिणाम घातक है।

२२५—जिस ज्ञानका संचेतन ज्ञानचेतना है वह ज्ञान आत्म-स्वरूप है अथवा आत्मा ही है अन्य कुछ चाहे वह शब्द, रूप, शास्त्र, आकाश, रागादिभाव आदि कुछ हो, ज्ञान नहीं है। अतः वास्तवमें ज्ञानकी अभेद उपासना ही मुक्तिका कारण है। यद्यपि ज्ञानोपासनामें उद्यत जीवोंके देहका लिङ्ग (चिह्न) निरारम्भ निष्परिग्रहका हो

जाता है तो भी देहका लिङ्ग मोक्षका कारण नहीं है। जो लोग देह के लिङ्गसे ही मुक्ति माननेके कारण इस ही व्यवहारमें मुग्ध हो जाते हैं वे परमार्थका उपयोग नहीं कर सकते। जैसे किसी कुशल व्यापारी का धान्य खरीदनेका व्यापार देखकर कोई ऊपरी रंग ढंगकी चीजमें सारका विश्वास रख धान्य जैसे रूप रंगका धान्यका छिलका उस भावमें खरीद लेता है तो चांवलको तो नहीं प्राप्त कर सकता।

इस प्रकार शुद्ध आत्मतत्त्व अर्थात् समयसारका यथार्थ स्वरूप जानकर उसके उपयोगमें रहना निर्विकार होनेका, शान्त व आनन्द-मय होनेका उपाय है। इस ही के परिणाममें यह सर्वज्ञाता व सर्व-दर्शी हो जाता है। इस पदमें सबका पूर्ण एकस्वरूप रहता है।

ॐ नमः शुद्धाय, ॐ नमः सहज सिद्धाय, ॐ शुद्धं चिदस्मि। ॐ तत् सत्।

ॐ शान्तिः, ॐ शान्तिः, ॐ शान्तिः।

इति सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार समाप्त

मुद्रक—नवयुगान्तर प्रेस, पोस्ट बाक्स ३३३, शारदा रोड, मेरठ शहर

To report error, please contact vikasnd@gmail.com
Version 1